लेखक की अन्य कविता-पुस्तकें

विंध्य-हिमालय	4.00
पर आँखें नहीं भरीं	4.00
प्रलय-सृजन	प्रेस में
हिल्लोल	प्रेस में

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-6

मध्यप्रदेश शासन द्वारा 'देव-पुरस्कार' से सम्मानित

विश्वास बढ़ता ही गया

(कविता-संग्रह)

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली. नई दिल्ली. चण्डीगढ़. जयपुर. लखनऊ

VISHWAS BARHHTA HEE GAYA
(*Collection of poems*)
by
Shiv Mangal Singh 'Suman'
Price : Rs. 4.00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ
हौज खास, नई दिल्ली
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
चौड़ा रास्ता, जयपुर
17-अशोक मार्ग, लखनऊ

द्वितीय संस्करण : 1967
मूल्य : 4.00 रुपए

मुद्रक
सत्यपाल धवन
दी सेंट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस
80-डी, कमला नगर, दिल्ली-7

ग्रामवासिनी निरक्षरा माँ को



द्वितीय संस्करण की समरसता में

आज जब 'विश्वास बढ़ता ही गया' का नया संस्करण छपने जा रहा है तो मेरे मन में भी कम कौतूहल नहीं है। इसी बीच हिन्दी कविता बहुत आगे बढ़ चुकी है। नये 'भावबोध की नई परिकल्पनाएँ' प्रादुर्भूत हो चुकी हैं और व्यंजना के नये आयाम संवर चुके हैं। निरपेक्ष या सापेक्ष यथार्थ युग के समस्त स्पंदनों और आलोड़नों को आत्मसात कर लेने के लिए इतना व्यग्र कभी नहीं था। किसी जमाने में हमारा भी दावा था कि हमारी साँसों में राष्ट्र की प्रत्येक धड़कन प्रतिध्वनित है। जमाना तो हमेशा से बदलता आया है पर उसकी गति में इतनी द्रुतता कभी नहीं थी। अपने ही हाथों से टटोलकर विश्वस्त होना पडता है कि अपने ही पैर हैं। कभी-कभी लगता है कि ये रचनाएँ अपना हक अदा कर चुकी हैं, अतएव अब इन्हें दाल-भात में मूसरचंद नहीं बनना चाहिए। तौलने का भी मौका मिल गया है कि सामयिक-माल काल के बाजार का उतार-चढ़ाव कहाँ तक झेल पाता है! संप्रति इतना ही मूल्यांकन समुचित होगा कि राष्ट्र के जीवन में कभी ऐसा भी दौर आया था।

अभी उस दिन माधव कालिज, उज्जैन के एम० ए० हिन्दी के छात्रों को संबोधित करते हुए नामवरसिंह ने बड़ी सहज किन्तु सटीक बात कही थी कि "किसी घर में नव-शिशु के जन्म लेते ही समस्त परिवार के सामाजिक और संवेदनात्मक सम्बन्ध अनायास ही बदल जाते हैं, कुछ अंश तक आर्थिक भी। क्षण भर पहले जो पति-पत्नी या प्रेयसि-प्रियतम थे, वे पिता-माता बन जाते हैं। पिता बाबा, माता दादी, भाई चाचा और बहन बुआ बन जाती है। इस अहसास की सूक्ष्मता अपनी सहजता में ही सत्य को संवेद्य कराने की क्षमता रखती है। नई कविता के जन्म के साथ ही जो नया भावबोध घटित हुआ है वह प्रयोगवाद और छायावाद के ही पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं लाया है, वरन् इस परिवेश मे रीतिकाल, भक्तिकाल और संतकाल की मान्यताओं के नवमूल्यांकन की भी अपेक्षा रखता है। इस नव-शिशु ने हमारी

कल्पनाओं के आयामों और यथार्थ की प्रतीतियों को एक ही दिन में कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया, पर है यह परिवार के सहज विकास का ही प्रतिफलन। इस क्रम को हम विशृंखलित सामंतवाद, ह्रासोन्मुख साम्राज्यवाद, पतनोन्मुख पूंजीवाद और संभ्रमित शीत युद्ध के परिप्रेक्ष्य में न भी देखना चाहें और आर्थिक वैषम्य एवं वासनाविपर्यय से उद्भूत समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म स्पंदनों को गोली भी मार दें तो भी अणुविस्फोट जनित ध्वंसात्मक और गत्यात्मक अन्वेषणों के परिणामस्वरूप विज्ञान की समृद्धि के साथ-साथ खण्डहरों की वीभत्सता से अस्तित्व की ओर से भी आँखें नहीं मूँदी जा सकती। द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व के मानचित्र में पहला अणुबम नागासाकी और हीरोशिमा पर ही नहीं गिरा था वरन् साहित्य सृजन की तत्कालीन भावभूमि पर भी फूटा था—अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः। अब जब हम उससे भी दो क़दम आगे बढ चुके हैं, न्युक्लर युग और अंतरिक्षयुग मे तो अस्तित्व का प्रश्न नये यथार्थ के अन्वेषण का स्वाभाविक चरण ही कहा जायगा। जैसे कभी कल्पनावाद, छायावाद और अभिव्यंजनावाद, आया था वैसे ही अतश्चेतनावाद, अतियथार्थवाद और अस्तित्ववाद पानी की धारा-सा बहता चला आ रहा है। आज की आस्थाओं के विघटन, लक्ष्यहीनता, दिशाहीनता और आक्रोश को अणुयुग के सत्य अन्वेषण की प्रक्रिया का ही अंग मानना पड़ेगा। कल के निर्माण में इन उपलब्धियों का चाहे वह भाव-जगत में हों चाहे वस्तु-जगत में अपना तात्विक और ऐतिहासिक मूल्य होगा। इसीलिए इसे पश्चिम और पूर्व की सीमा रेखाओं मे नही बाँधा जा सकता। वैज्ञानिक आविष्कारो के ही समान सांस्कृतिक संचरणों पर भी 'सर्वाधिकार सुरक्षित' का एकाधिकार आरोपित नही किया जा सकता।

सम्प्रति इतना ही अलम् होगा कि सत्य की खोज में आज का विधुर-उन्मुक्त सर्जक जिस ऊहा-पोह से गुजर रहा है और नये आयामों को मापने मे वामन के जिन डगों का वर्चस्व जगा रहा है वह शुक्राचार्य के संकल्पो का समवाय ही है। हमारी पीढी ने भी परम्परागत ढूहो को ढहाने मे कुछ ऐसी ही विह्वलता दिखाई थी। संतोष की बात है कि उसकी अनगढ़ता अब नये शिल्प में ढल रही है और नये भाव-बोधों का विकल्प संवार रही है। परिवार

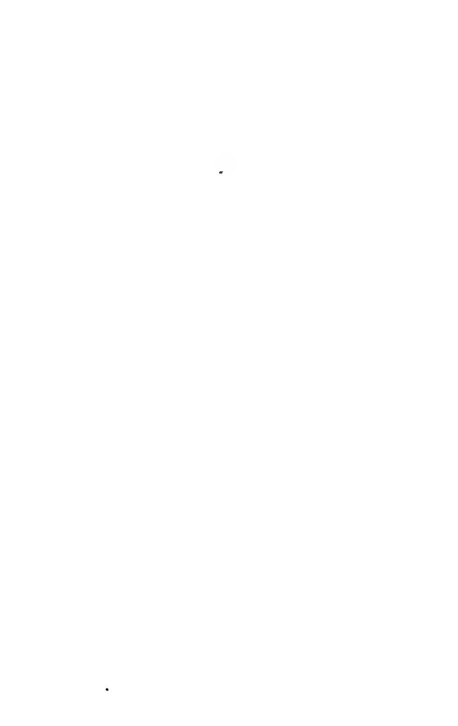
के सम्बन्धों में इन 'अनिवार्य परिवर्तनों के' संदर्भ में अविच्छिन्न कुछ भी नहीं है। आसमान से टपकी हुई चीज का भी बिना धरती के स्पर्श के कोई महत्त्व नहीं। बंजर धरती को उर्वर बनाने की चुनौती स्वीकारना ही सर्जक का सबसे बड़ा धर्म है—"दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं तु पौरुषम्।'

मई, 1967 —शिवमंगलसिंह 'सुमन'

संकेत

मैं स्वभाव से ही प्रमादी हूँ, दीर्घसूत्री भी। इन रचनाओं के प्रकाशन में विलम्ब का मात्र यही कारण है। प्रस्तुत: संग्रह की रचनाएँ विगत दस वर्षों के ऊहापोह की कहानी हैं, सन् 1945 से 1955 के प्रारम्भ तक की। गीत अलग छाँट लिये हैं जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर मेरे प्रायश्चित्त की पूर्ति कर सकेंगे। 'विश्वास बढ़ता ही गया' ने मुझे इस संक्रमणयुग में बड़ा बल दिया है, इसलिए उसके प्रति कुछ भी कहना अनावश्यक समझता हूँ। एक बात से बड़ा संतोष हुआ, पुस्तक प्रकाशित होने पर कुछ पुरानी सामयिक रचनाओं को फिर से पढ़कर देखा तो वे इतनी पुरानी नहीं लगीं जितनी कि मैं समझता था। अपने और समाज के संघर्ष के बीच की सीमा-रेखा खींचना बड़ा कठिन है। जन-जीवन के अप्रतिहत विश्वासों की कसौटी पर जीना-मरना दोनों सुखद लगता है।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'



विषय-सूची

पथ को सरलता देखकर

दो-चार डग जब बढ़ गया

मेरी नज़र के सामने

आकर हिमालय अड़ गया

पग के अथक अभ्यास पर

विश्वास बढ़ता ही गया।

'सुमन'

मैं बढ़ा ही जा रहा हूँ

(1)

मैं बढ़ा ही जा रहा हूँ, पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।

चल रहा हूँ क्योंकि चलने से थकावट दूर होती,
जल रहा हूँ क्योंकि जलने से तमिस्रा चूर होती,
गल रहा हूँ क्योंकि हल्का बोझ हो जाता हृदय का,
ढल रहा हूँ क्योंकि ढलकर साथ पा जाता समय का।

चाहता तो था कि रुक लूँ पार्श्व में क्षणभर तुम्हारे
किंतु अगणित स्वर बुलाते हैं मुझे बाँहें पसारे,
अनसुनी करना उन्हें भारी प्रवंचन कापुरुषता
मुँह दिखाने योग्य रक्खेगी न मुझको स्वार्थपरता।

इसलिए ही आज युग की देहली को लाँघकर मैं—
पथ नया अपना रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।

(2)

ज्ञात है कब तक टिकेगी यह घड़ी भी संक्रमण की
और जीवन में अमर है भूख तन की, भूख मन की
विश्व-व्यापक-वेदना केवल कहानी ही नहीं है
एक जलता सत्य केवल आँख का पानी नहीं है।

शान्ति कैसी छा रही वातावरण में जब उदासी
तृप्ति कैसी, रो रही सारी धरा ही आज प्यासी
ध्यान तक विश्राम का पथ पर महान अनर्थ होगा
ऋण न युग का दे सका तो जन्म लेना व्यर्थ होगा।

इसलिए ही आज युग की आग अपने राग में भर
गीत नूतन गा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।

(3)

सोचता हूँ आदिकवि क्या दे गए हैं हमें थाती
क्रौञ्चिनी की वेदना से फट गई थी हाय छाती
जब कि पक्षी की व्यथा से आदिकवि का व्यथित अंतर
प्रेरणा कैसे न दे कवि को मनुज-कंकाल जर्जर

अन्य मानव और कवि में है बड़ा कोई न अंतर
मात्र मुखरित कर सके, मन की व्यथा, अनुभूति के स्वर
वेदना असहाय हृदयों में उमड़ती जो निरंतर
कवि न यदि कह दे उसे तो व्यर्थ वाणी का मिला वर

इसलिए हो मूक हृदयों में घुमड़ती विवशता को—
मैं सुनाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।

आज शोपक-शोपितों में हो गया जग का विभाजन
अस्थियों की नींव पर अकड़ा खड़ा प्रासाद का तन

धातु के कुछ ठीकरों पर मानवी-संज्ञा-विसर्जन
मोल कंकड़-पत्थरों के बिक रहा है मनुज-जीवन

एक ही बीती कहानी जो युगों से कह रहे हैं
वज्र की छाती बनाए, सह रहे हैं, रह रहे हैं
अस्थि-मज्जा से जगत के सुख-सदन गढ़ते रहे जो
तीक्ष्णतर असिधार पर हँसते हुए बढ़ते रहे जो

अश्रु से उन धूलि-धूसर शूल जर्जर क्षत पगों को—
मैं भिगोता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ ।

(4)

आज जो मैं इस तरह आवेश में हूँ अनमना हूँ
यह न समझो मैं किसी के रक्त का प्यासा बना हूँ
सत्य कहता हूँ पराए पैर का काँटा कसकता
भूल से चींटी कहीं दब जाय तो भी हाय करता

पर जिन्होंने स्वार्थवश जीवन विषाक्त बना दिया है
कोटि-कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिना लिया है
'लाभ शुभ' लिख कर ज़माने का हृदय चूसा जिन्होंने
और कल बंगालवाली लाश पर थूका जिन्होंने ।

बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी

चाहता हूँ ध्वंस कर देना विषमता की कहानी
हो सुलभ सबको जगत में वस्त्र, भोजन, अन्न, पानी ।

नव-भवन निर्माणहित मैं जर्जरित प्राचीनता का—
गढ़ ढहाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ ।



कहाँ समाप्त साधना ?

तुम पी रहे गरल
 कि देख नीलकण्ठ मुग्ध हैं
सुधा लजा गई,
 अमर पतित, असुर विक्षुब्ध हैं
 मगर अभी तो पग प्रथम
 कहाँ समाप्त साधना ?

कि है नरत्व ताव पर
लगा हुआ है, ग्राम, गृह,
नगर, सभी तो दाँव पर

 तुम्हें अगर है मान कुछ
 मनुष्यता के नाम की
 तो ध्यान यह बना रहे
 वमन न हो, वमन न हो।

तुम तप रहे हो जिस तरह
 न तप सका निदाघ भी
तुम्हारी आग देख
 मंद पड़ गई दवाग भी।
 मगर अभी तो पग प्रथम
 कहाँ समाप्त साधना ?

लपट लपट से भेंट लो
हर एक शोला, चिन्गी चिन्गी
अंक में समेट लो

बने अगर विभूति तो
जो आ रही हैं पीढ़ियाँ
भविष्य में उन्हें कभी
तपन न हो, तपन न हो।



मैं मनुष्य के भविष्य से नहीं निराश

'चिर-अनादि चिर-अनंत की परंपरा
मेघ घिर रहे हैं क्योंकि उर्वरा धरा,
आज पूर्ण चंद्र-बिम्ब राहु-ग्रस्त है
थरथरा रहा है किंतु तम घिरा-घिरा

जिन्दगी कहीं महान चाह-दाह से
चिर विकासशील जन्मजात अश्रु-हास।

(2)

आज आसुरी बनी समस्त सभ्यता
गिर पड़ा तुषार लुट गई लता-लता,
छिन्न-भिन्न सी ममत्व-सत्व-शृङ्खला
खो गई कहीं मनुष्य की मनुष्यता !

मरु-प्रसार सी हरी-भरी वसुंधरा
बीज शेष किन्तु, विश्ववट नहीं उदास।

(3)

एक बीज में निहित असंख्य वन-वितान,
एक बिंदु में विहित असंख्य सिंधु-गान,
देश-जाति-धर्म-वर्ग बाँध लाँघ कर
एक ही हृदय विराट में प्रकम्पमान।

रूप-गंध-भेद, मृत्तिका नहीं मलीन,
एक स्नेहबिंदु कोटि दीप का प्रकाश।

(4)

व्योम क्षुब्ध, धरणि त्रस्त, भीत चल अचल
सुर-असुर-मथित-जलधि उगल रहा गरल
चाहिए नवीन नीलकंठ अवतरण—
पी सके, पचा सके, विषम तरल-अनल।

हे सुधाचयी, कहाँ विराम, फिर मथो,
द्वार द्वार कामधेनु, तृप्त भूख-प्यास।



छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन ।

अश्व, तुम्हारे आँगन में
होते हैं सृष्टि, प्रलय, परिवर्तन
मैं भी एक तुम्हारा ही कण
करता रहता प्रतिपल नर्तन

रुक कर करूँ विराम एक क्षण
ऐसा कहीं विधान नहीं है
एक गूंज हूँ जिसकी लय का
आदि नहीं, अवसान नहीं है

जब तक हाथ-पैर चलते हैं
जब तक वाणी बोल रही है

अथ-इतिहीन कर्ममय पथ पर
भार नहीं बन सकता जीवन।
छोटे-मोटे आघातों से-
हार नहीं सकता मेरा मन।

(2)

मुड़कर नहीं देखते जीवन के
रस से संचालित निर्झर

झंझा की संदेशवाहिका वायु
नहीं रुकती है पथ पर

सुमनों की मधुगंध मलय वन
चल देती सौरभ बिखराने
लौट उसी में फिर आने के
गाती फिरती नहीं तराने

जब तक कली कली उपवन में
सुरभि-ग्रंथियाँ खोल रही है—

सौ सौ पतझारों के बल पर
सूख नहीं सकते मधु के कन
छोटे-मोटे आघातों से-
हार नहीं सकता मेरा मन

(3)

मैं सब का हूँ सब मेरे हैं
अनगिन अंग एक ही अंगी
मैं ही रो दूँ तो फिर कैसे
धैर्य धरेंगे साथी-संगी

जिसने सीख लिया जितना
अपनी आँखों के आँसू पीना
उतना ही वह अमर बन गया।
जान गया जीवन में जीना

जब तक कवि की आँख
विश्व के उर की व्यथा टटोल रही है—

लघु से लघुतम मानव-उर का—
प्यार नही बन सकता निर्धन।
छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन।

(4)

नित्य नया जीवन पाने की
इच्छा का ही नाम मरण है
पतझर का आना, वसंत के
आवाहन का प्रथम चरण है

बौर रसालों के रस का
संदेश सुनाते घूम रहे हैं
फूल फलों की अभिलाषा में
मलयज का मुख चूम रहे हैं

जब तक काली कोयलिया
डाली-डाली पर डोल रही है,

प्रलय सृजन का अविरत क्रम
क्या रोकेंगे उन्चास प्रभंजन।
छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन।

(5)

हमीं अकेले नहीं, तपा करती है
सारी सृष्टि यहाँ पर
बूँद एक दो नहीं, उमड़ते हैं
सावन - भादों के जलधर

लूक - लपट - संहार, हृदय
उर्वर करने के ही साधन हैं
जन-जन के उच्छ्वास, किसी
वर्षा के उमड़-घुमड़ते घन हैं

जब तक बूँद बूँद, रवि को-
ज्वाला पर जीवन तौल रही है

ऊसर को उर्वर करने से
चूक नहीं सकते सावन-घन।
छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन।

(6)

दिन तपता है, रात उसे
शीतल करने का साज सजाती
खग कलरव के साथ साथ
संध्या रोती, ऊषा मुसकाती

जग का कलरव अमर, अमर
गति के शंकर का ताण्डव-नर्त्तन
एक चरण की ठमक, विश्व के
सामूहिक जन-मन का क्रंदन

जब तक विहग बालिकाएं
ऊषा से होली खेल रही हैं—

नव युग के स्वर्णिम विहान को
रोक नहीं सकते उलूक-गन,
छोटे मोटे आघातों से
हार नहीं सकता मेरा मन।



जीवन बहता ही जाता है

अंतर में आशा का उभार
सांसों में स्वप्नों का प्रसार
दाएँ बाएँ ऊँचे कगार
लघु लघु लहरों की कलकल में कुछ कहता-सुनता जाता है,
जीवन बहता ही जाता है।

गति का ही एक सहारा है
फूटी पत्थर की कारा है
अब बूंद नहीं है, धारा है
जो जीर्ण-शीर्ण पथ पर झड़ता गिरता, ढहता ही जाता है,
जीवन बहता ही जाता है।

ढहना तो सिर्फ कहानी है
पत्थर भी पानी पानी है
बहने का नाम जवानी है
कंकड़-पत्थर ऊसर-उर्वर सबको हँस हँस अपनाता है,
जीवन बहता ही जाता है।

रुकना मिटने को कहते हैं
हम हरदम बहते रहते हैं
जो कुछ आता है सहते है
यह वह प्रवाह जो बीते पथ की कथा नहीं दुहराता है,
जीवन बहता ही जाता है।

पथ के रोड़ों से डरना क्या
बीती पर व्यर्थ झगड़ना क्या
बढ़कर फिर पीछे मुड़ना क्या
पथ की प्रारम्भिक भूलों पर वह कब रह रह पछताता है,
जीवन बहता ही जाता है।

जब घनी बदलियाँ छाती हैं
पथ पर बाधाएँ आती हैं
आँखें सूनी हो जाती हैं
कुछ सोच-समझ अपनी गति में वह नई प्रखरता लाता है ?
जीवन बहता ही जाता है।

निष्क्रिय उद्भ्रांति सदा होती
बहने से थ्रांति नहीं होती
मंजिल की भ्रांति नहीं होती
निष्क्रियता का गंदला पानी बह कर निर्मल हो जाता है,
जीवन बहता ही जाता है।



युग-पंथी से

नवयुग पंथी !
चले जा रहे हो तुम कैसे
अडिग चरण धर
राह कंटकाकीर्ण रौंदते
जर्जर पदतल, मुट्ठी बाँधे
अधरों में मुसकान, दृगों में आँसू साधे,
नद-निर्झर की धार मोड़ते
रूढ़ि-रीति गत भीति, पलायन की भारी-भारी चट्टानें
सीने की टक्कर से प्रतिपल मौन तोड़ते ।
तुम्हें समझते लोग मात्र लोहे का पुर्जा
भावशून्य भौतिकवादी पशु
नहीं जानते
नहीं जानते
सिंधु तुम्हारी छाती में आलोड़ित होता
चाँद तुम्हारी साँस-साँस की बाट जोहता
तारे मुग्ध निहारा करते
उस पुतली की चमक
कि जिस पर मोती लुटते,
मृग बेचारे स्वयं संकुचित
मृगतृष्णा की लहरों में रह रह कर घुटते
किंतु नहीं बच पाए साथी
कवि की आँखें देख रही है

तुम जिस पथ पर चले
हाय, बालू का पथ था
रक्त-स्वेद की बूँदें बिखरीं
पर चरणों की रेख नहीं है
तुम जो सचमुच मानव ही थे
देव न थे अथवा दानव ही
किंतु जिसे मानव होने का सुख न मिल सका।
अब की बार
तुम्हारा जीवन यों ही बीता
यौवन-घट रीता का रीता
रहा छलकता
मरुस्थल के उस चूर-पथिक सा
जो सिकता के अंगारों पर
चलता चलता
जलता जलता
खुद अपनी ही प्यास पी गया।
सूनी आँखें रही देखतीं
दूर कहीं छल-जल की आभा
रात-दिवस की गाँठ जोड़ने
छितिज-छोर पर फैली द्वाभा।



विश्वास बढ़ता ही गया

आकुल तृषित मृग-अध को
मरु में दिखा जो सिंधु सा
आतुर-अधर की चाह पर
जब उड़ गया हिम बिंदु सा

तब भूल के इतिहास पर
विश्वास बढ़ता ही गया

(2)

पी की प्रतिध्वनि से उमड़
नभ में सजल-बदली घिरी
दो बूंद के बदले मगर
जब बज्र-सी बिजली गिरी

चातक-हृदय की प्यास पर
विश्वास बढ़ता ही गया

(3)

पथ की सरलता देख कर
दो चार डग जब बढ़ गया
तब दृष्टि-पथ के सामने
आकर हिमालय अड़ गया

पग के अथक-अभ्यास पर
विश्वास बढ़ता ही गया।

ग्रीष्म रात्रि का प्रभंजन

रात का पहला प्रहर
अभी अभी दीपक बुझाया है पड़ोसी ने
झपकी ले ही रही होंगी श्रमित पलकें
कि हर हर करता तूफान उठ पड़ा विक्षुब्ध
उखड़-सी गई है साँस
श्लथ मंद चरणों की बदल गई है गति।
जैसे चल रहा हो कोई
पेड़ों के नीचे पड़े पतझर के पत्तों पर।
हड़का हुआ कुत्ता एक
भागा जा रहा है दबे पाँव पिछवाड़े से,
ब्यालू बिना किए
सई-साँझ ही जो सो गई थी
सहसा उठ बैठी है शय्या पर अस्तव्यस्त
निर्निमेष नभ के नयनमूक
भ्रू भंगिमा का प्रकंपन समेट चुके
चारों ओर घोर तिमिराच्छन्न व्योम
फैल सा गया है किसी काली मशहरी सा।
कहीं कहीं लटक रहो है सफेद झाग,
रुई धुनी
अजगर ज्यों निगल गया हो समूचा भोज्य
लहरें सा मारता।
बाला अभी बैठी है ज्यों की त्यों

कभी कभी केवल जम्हाई सुन पड़ती है
टूट गई संभवतः
मीठी नींद
पहली नींद,
पूछता मन
देवि ! दुःखस्वप्न देखतीं थीं क्या ?
या युग युग के स्तर में छिपी
किसी संध्या की
आकुल प्रतीक्षा मूक
सजग हो उठी है
अरुण नयनों की कोरों में,
अथवा किसी आगत का
आतुर आक्रान्त मोह
समय की छलनी में छानने को उद्यत है
जीवन के मूल्य नव।
बोलती नहीं है किन्तु संध्या की छाया वह
केशपाश केवल उड़ उड़ ढक रहे कपोल
सघन होती जा रही है
तम की विपण्ण छाया,
उत्तर में शून्य कर उठा है
साँय साँय साँय।



दे दो अपने अश्रु मुझे प्रिय
मधुमय गान न दो।

हम संक्रान्ति काल में जन्मे
अपना वस न रहा
जिस घट पर सब आँख लगाए
उसमें रस न रहा
सूखा मधुघट, रूखा प्याला
सूना मदिरालय
जर्जर जीवन, जर्जर जगती
जर्जर पुलक-प्रणय

प्रलय-सृजन की इन घड़ियों में
कवि का मान कहा करता है—
'तुम युग का अभिशाप झेल लो
पर वरदान न लो।'

(2)

युगों युगों से आकुल-व्याकुल
सागर संघाती
हिली हिमालय की जड़ काया
दरक गई छाती
बिहँसा मरुथल, पुलका ऊसर-
भंसा अधनंगा

वही सरसता की सरिता सी
नवयुग की गंगा

नव प्रवाह के नए वेग में
यौवन-ज्ञान कहा करता है—
'तट ओरों के लिए छोड़ दो
तुम मझधार वहो'।

(3)

एक बार फिर मानव-दानव में
छिड़ गया कलह
शान्ति स्वप्न की वस्तु बन गई
क्रान्ति मची अहरह
अमृत की आशा में, पहले
फूटा हालाहल
मथित सिंधु विष वमन कर उठा
झुलस गए जल थल

चिर-विदग्ध युग की छाया में
सिंधु महान कहा करता है—
'सुधा अशिव अमरों को दे दो
तुम विषपान करो'।



नई आग है, नई आग है

आज एशिया के अन्तर में
सुलग उठी है जो चिन्गारी
नई आग है, नई आग है।

जब घर घर में लपटें सुलगीं
दावानल का कहाँ ठिकाना
सिंधुपार जो धधक उठा है
वह वड़वानल नहीं पुराना

ग्रस्त-ध्वस्त हो रहा पुरातन
नया वेष है, नया साज है
सदियों से सोई मानवता
अँगड़ाई ले रही आज है

क्षितिज-छोर पर छिटकी लाली
बता रही विह्वलता रवि की
ध्वनित-प्रतिध्वनित उमड़-घुमड़ कर
छाती फाड़ रहा जो कवि की

नव-जीवन की नई ज्योति का
नया सवेरा, नया तराना
नहीं पुराना, नहीं पुराना
नया राग है, नया राग है।

(2)

मूल शक्ति अग्निस्फुलिंग यह
विश्व-विधात्री, चिर-अनियारी
आदिकाल से सृष्टि गर्भ में
छिपी हुई थी यह चिन्गारी

इसी अग्नि से धरती झुलसी
इसी अग्नि से वृष्टि हुई थी
इसी अग्नि से प्रलय मचा था
इसी अग्नि से सृष्टि हुई थी,

इसी अग्नि से ग्रह उपग्रह
नक्षत्र, सौरमण्डल आलोकित
इसी अग्नि से काम भस्म हो गया
हो गए शंकर मोहित,

यह जीवन की अग्नि
झुक गया जिसके सम्मुख स्वयं विधाता
यह जीवन की अग्नि
स्वयंसिद्धा नवयुग नवपथ निर्माता

इसे बुझाने बड़े बड़े आए
पर मुंह की खाकर लौटे
एक लपट में पानी बन
गल गए जगत के सिक्के खोटे

इसे बुझाने आसमान में
काले मेघ बहुत मंडराए
रावण, अहिरावण, दुःशासन
नीरो, ज़ार, बहुत से आए

हिटलर, तोजो, मुसोलिनी ने
अंजुलि भर भर रक्त उलीचा

पर न बुझी यह
पर न बुझी यह

स्वयं बुझे वे, जिन हाथों ने
मानवता का हृदय चीर कर इसको सींचा।

यही अग्नि तो मई दिवस को
चमक उठी थी अमरीका में
यही अग्नि तो धीरे धीरे
सुलग रही है अफ़रीका में

इसी अग्नि ने तपा तपा कर
उस नगरी का रूप निखारा
जिसकी चमक देख सब बोले
'लाल सितारा', 'लाल सितारा'

जहाँ सृष्टि के प्राणी ने
अपने हाथों अपना सुख बाँटा
बना हुआ जो अंध उलूकों की
आँखों का अब भी काँटा।

चिन्गारियाँ इसी की बिखरीं
ग्रीस हंगरी रुमानियाँ में
फ्रांस और बर्लिन ने खोली आँख
दूसरी ही दुनिया में

सन सत्तावन में यह चमकी
चौरी-चौरा में भी दमकी
और अगस्त बयालिस में भी
इसकी अंतर्ज्वाला धधकी

और आज जब—

छिन्न-भिन्न फ़ासिस्तवाद की चर्बी चर्चित
जीर्ण-शीर्ण साम्राज्यवाद की रुई जर्जरित
इसे मिल गई, फिर क्या कहना—
फड़के अधर, नासिका फूली, आँखें तमकीं

अत्याचार विषमता के विषधर को भस्मसात् कर देने
लाल लाल लपटों की लप लप जिह्वा लपकी

उधर साथ ही—

देश-देश की दबी-पिसी जनता की
आकुल मुक्त-भावना
बन कर आँधी चली अचानक
बड़ी भयानक

भाँय भाँय भाँ
धाँय धाँय धाँ

फैलीं लपटें एक झपट में ही
इंडोनीशिया जल उठा
टूक टूक सदियों के बंधन
जन-जन का संगठित बल उठा

जावा और मलाया में फिर

नई जवानी आई घर घर
बालक, बूढ़े, युवा, नारि-नर
छाती खोले खड़े
गोलियाँ खाने को मिटने को तत्पर।

स्वतन्त्रता की आई वेला—
गली-गली में, डगर डगर में
लिए हथेली पर सिर
आगे बढ़ा शहीदों का जब मेला

मुक्त देश की शान आ गई
मुर्दों में भी जान आ गई
एक आन पर लुटा दिया, तन, मन, धन, सरबस
यह छोटी सी जान और फ़ौलादी साहस

दिखा दिया यह
सिखा दिया यह
बस उठने की ही देरी है
एक आन पर, एक शान पर
मर मिटने की ही देरी है

अन्धकार फट रहा,
सामने नव-विहान है
व्यर्थ विश्व की सारी पशुता
मानव का साहस महान है।

भारत मेरे!
चालिस कोटि जनों के नायक
देश देश की मूक-पंगु,
जनता की आशा, भाग्य विधायक।

तुम पीछे रह गए
बहा गंगा-जमुना में कितना पानी
गति वाले बह गए।

तुम करते ही रहे अभी तक मन-समझावा
और उधर उठकर जावा ने नवयुग को दे दिया बुलावा

पास बगल में खड़े तुम्हारे
इन छोटे छोटे बौनों ने
अथवा जिनको जग केवल बौना समझा था
नए विश्व की रेख रचा दी

प्रलय मचा दी
आज कहाँ तुम ?
खड़े हुए हो इस अन्धड़ में
कैसे गुमसुम ?

आओ, उट्ठो, करो तैयारी
बाकी अभी तुम्हारी बारी

आहुति लाओ
आज दीप से दीप जलाओ

हाथ बढ़ाओ, लो मशाल, आगे बढ़ जाओ
दुनिया भर के पददलितों का हाथ बटाओ

तुम सा कुचला गया
विश्व में कौन दूसरा ?
तुम सा अपमानित
दुनियाँ में कौन दूसरा ?

ध्यान रहे—
सब पाप तुम्हारे ही सिर होगा
दलित विश्व की भूख, ग़रीबी, परवशता का,
क्योंकि आज तुम केन्द्र-विन्दु हो
उसी तरहजिस तरह ब्रिटिशसाम्राज्यवाद यह
प्रतिनिधि आज विश्व भर के अन्याय, दमन का, नृशंसता का

देश देश के जन-जीवन का
गला घुट रहा, श्वास रुद्ध है
प्रश्न एक का नहीं
विश्व - स्वातंत्र्य - युद्ध है

आज तुम्हारे ही कंधों पर
इस ज्वाला की जिम्मेदारी
अब न एक पल भी बुझ पाए
मुक्ति दूत-सी यह चिन्गारी

उठो उठो मेरे शिव
ताण्डव-नृत्य करो
कुहराम मचा दो

कंकालों की अस्थि नीव पर खड़े
विश्व साम्राज्यवाद की
आज ईंट से ईंट बजा दो

सबकी आँखें लगी तुम्हीं पर
बाट जोहते खड़े युगों के नंगे भूके
अगर कहीं यह अवसर चूके—

कल स्वतंत्रता के सैनिक
संकेत करेंगे
यही कहेंगे

जब नव-जीवन ज्योति जगी थी
घर-घर भीपण आग लगी थी
आपस में लड़ते ही ये रह गए अभागे
सोते ही रह गए, जिस समय जावा और सुमात्रा जागे

इस ओछेपन का कलंक का
फिर क्या प्रायश्चित्त करोगे
दुनिया की जनता के सन्मुख
फिर किस मुँह से उत्तर दोगे

आज गुलामी की कालिख को
अपने लाल रक्त से धो दो

सदियों का यह मैल पुराना तो
पानी से घुल न सकेगा, घुल न सकेगा
बुरा दाग़ है, बुरा दाग़ है

(3)

कब सुलगी थी
कब फैली है
नई आग यह

कब गाया था
कब गूंजा है
नया राग यह

सदियों के अरमान हमारे
कसक उठे हैं, उभर पड़े हैं
सदियों के अपमान हमारे

यह उफान, सैलाब हृदय का
अब न रुकेगा, अब न रुकेगा
लाल, खून से भीगा झण्डा
अब न झुकेगा, अब न झुकेगा

नव-जीवन की नई उमंग यह
रक्तधार में कहा छिपी है

समझ-बूझ कर क़दम बढ़ाना
पग पग पर बारूद बिछी है

कई बार छल चुके सिंह की खाल ओढ़ के
तुम समाज की स्वच्छ देह पर दाग़ कोढ़ के

शोषण, मुक्ति, शांति, समता के
बड़े बड़े भड़कीले नारे
युद्ध-काल की मायूसी के
कहाँ गए वायदे तुम्हारे

हमें मिटाना चाह रहे तुम
हमें दबाना चाह रहे तुम
टैंक चला कर
बम बरसा कर

खोद खोद कर कब्र सभ्यता की
समता, आशा नवागता की

स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता की लाशों से
इस तरह पाटते शर्म न आती
क्या कहते थे, क्या करते हो
थूक थूक कर स्वयं चाटते शर्म न आती

पर हम तुमको जान गए अब
अपने को पहचान गए अब
आज विश्व की पराधीन पददलित
मानगर्वित जनता को—

नई जवानी
नई रवानी
नई कहानी

अन्तिम बलि की हुई तैयारी
मर मिटने की आन हमारी
युग-युग के अत्याचारों से
जो न दब सकी, जो न पिस सकी
यह फौलादी जान हमारी

बहुत कहा अब तक हमने
अब कुछ न कहेंगे
आज धरा की छाती पर
या तुम न रहो, या हम न रहेंगे

जन-जन का बलिदान अमर है
कोटि-कोटि कंठों का स्वर है
बुझा सको तो आज बुझाओ
हिम्मत हो तो अब ठुकराओ

आग हमारी
मांग हमारी

यह एटम-बम की धमकी से

दब न सकेगी
थम न सकेगी
अडिग मांग है, अडिग मांग है।



[गत महायुद्ध समाप्त होते ही भारत, चीन, बर्मा, जावा, सुमात्रा, मलाया, इंडोनेशिया, वियत-नाम आदि एशिया भू-खंड के समस्त पददलित देशों मे अनायास ही जनशक्ति के ज्वालामुखी के विस्फोट होने पर]

कवि !

एक अंबुधि की व्यथा है
एक अंबर की व्यथा है
और कण कण की धरा पर
एक अपनी भी कथा है
वेदना-कन चुन यहाँ कवि।

देख नभ में रवि-उदय भी
देख सागर है सदय भी
और नर के शुष्क-पथ पर
साथ है नारी-हृदय भी
आँख खोले चल यहाँ कवि।

टूटते दिल की कहानी
सूखते जल की निशानी
टिमटिमाते दीप की लौ
और आँधी की जवानी
सुन यहाँ कवि, गुन यहाँ कवि।

कलि कुसुम का मुसकराना
भ्रमित-भ्रमरों का तराना
प्यास की मधु आस, केवल
एक जीने का बहाना।
गल यहाँ कवि, ढल यहाँ कवि।

देख महलों की ऊँचाई
रक्त से किसने रचाई
विश्व तुझसे चाहता है
जानना इसकी सचाई
बात सच्ची कह यहाँ कवि।

स्वर्ण सौधों का उँजेरा
दीन कुटिया का अन्धेरा
है जहाँ निशि व्याप्त कब से
पर नहीं होता सवेरा
ज्योति बन तू जल यहाँ कवि।



फिर आ गई दिवाली

(1)

मिट्टी के लघु लघु दीपक
सूने अन्तर में स्नेह भरेंगे
व्यथा बनेगी ज्योति, हृदय की
बाती में सपने उभरेंगे
अनायास खिलखिला पड़ेगी फिर से रजनी काली
फिर आ गई दिवाली।

(2)

भरे-पुरों के घर में
लक्ष्मी पूजन के सामान जुटेंगे
रजत-स्वर्ण की चकाचौंध में
खील बँटेगी, फूल लुटेंगे
छाई होगी गृह-पथ-आँगन में जगमग उजियाली
फिर आ गई दिवाली।

(3)

स्नेह न पाया, ज्योति न जानी
अंधकार से लड़े, मिट गए
घर घर दीप जलाने में ही
जिनके जीवन-दीप बुझ गए
मूक-उदासी भरे गृहों पर दृष्टि किसी ने डाली?
फिर आ गई दिवाली।

(4)

हमें हमारी संस्कृति का बल
देश हमारा, पर्व हमारा
पर वह क्या खो गया कि
लगता भीतर-बाहर सब अँधियारा
क्यों न हमारा पर्व हमारे लिए व्यंग से खाली ?
फिर आ गई दिवाली ।

(5)

ऐसी भी क्या ज्योति कि
जलती रहे जगत की छाती
कहीं उमंगों का सागर हो
कहीं न दिया, न बाती
पतझर भी कैसा जिसने देखी न कभी हरियाली।
फिर आ गई दिवाली।

(6)

कभी हमारी भी धरती पर
सुख-समता के फूल खिलेंगे
गली-गली जगमगा उठेगी
स्नेहभरे दीपक, छलकेंगे,
नयनों की पुतली में झलकेगी प्रकाश की लाली।
फिर आ गई दिवाली।



आज देश की मिट्टी बोल उठी है

(1)

लोह-पदाघातों से मर्दित
हय-गज-तोप-टैंक से खौंदी
रक्तधार से सिंचित पंकिल
युगों युगों से कुचली रौंदी।

व्याकुल वसुंधरा की काया
नव-निर्माण नयन में छाया।

कण-कण सिहर उठे
अणु-अणु ने सहस्राक्ष अंबर को ताका
शेषनाग फूत्कार उठे
साँसों से निःसृत अग्नि-शलाका

धूम्राधार नभ का वक्षस्थल
उठे बवण्डर, आँधी आई,
पदमर्दिता रेणु अकुलाकर
छाती पर, मस्तक पर छाई

हिले चरण, मतिहरण
आततायी का अंतर थर थर काँपा
भूसुत जगे तीन डग में
बावन ने तीन लोक फिर नापा।

धरा गर्विता हुई सिंघु की छाती डोल उठी है।
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

(2)

आज विदेशी बहेलिए को
उपवन ने ललकारा
कातर-कण्ठ क्रौंचिनी चीखी
कहाँ गया हत्यारा ? -

कण-कण में विद्रोह जग पड़ा
शांति क्रांति बन बैठी,
अंकुर अंकुर शीश उठाए
डाल डाल तन बैठी।

कोकिल कुहुक उठा
चातक की चाह आग सुलगाए
शान्ति-स्नेह-सुख-हंता
दम्भी पामर भाग न जाए।

सन्ध्या-स्नेह-संयोग-सुनहला
चिर वियोग सा छूटा
युग-तमसा-तट खड़े
मूक कवि का पहला स्वर फूटा।

ठहर आततायी, हिंसक पशु
रक्त पिपासु प्रवंचक

हरे भरे वन के दावानल
क्रूर कुटिल विध्वंसक

देख न सका सृष्टि शोभा वर
सुख-समतामय जीवन
ठट्ठा मार हँस रहा बर्बर
सुन जगती का क्रन्दन।

घृणित लुटेरे, शोषक
समझा पर धन-हरण बपौती
तिनका तिनका खड़ा दे रहा
तुझको खुली चुनौती

जर्जर-कंकालों पर वैभव
का प्रासाद बसाया
भूखे मुख से कौर छीनते
तू न तनिक शरमाया।

तेरे कारण मिटी मनुजता
माँग माँग कर रोटी
नोची श्वान-शृगालों ने
जीवित मानव की बोटी।

तेरे कारण मरघट सा
जल उठा हमारा नन्दन,
लाखों लाल अनाथ
लुटा अबलाओं का सुहाग-धन।

झूठों का साम्राज्य बस गया
रहे न न्यायी सच्चे,
तेरे कारण बूंद बूंद को
तरस मर गए बच्चे।

लुटा पितृ-वात्सल्य
मिट गया माता का मातापन,
मृत्यु सुखद बन गई
विष बना जीवन का भी जीवन।

तुझे देखना तक हराम है
छाया तलक अखरती
तेरे कारण रही न
रहने लायक सुन्दर धरती

रक्तपात करता तू
धिक् धिक् अमृत पीने वालो,
फिर भी तू जीता है
धिक् धिक् जग के जीनेवालो।

देखें कल दुनिया में
तेरी होगी कहाँ निशानी ?
जा तुझको न डूब मरने
को भी चुल्लू भर पानी।

शाप न देंगे हम
बदला लेने की आन हमारी

बहुत सुनाई तू ने अपनी
आज हमारी वारी

आज खून के लिए खून
गोली का उत्तर गोली
हस्ती चाहे मिटे,
न बदलेगी बेबस की बोली

तोप-टैंक-एटमबम
सब कुछ हमने सुना-गुना था
यह न भूल मानव की
हड्डी से ही वज्र बना था

कौन कह रहा हमको हिंसक
आपत् धर्म हमारा,
भूखों नंगों को न सिखाओ
शांति शांति का नारा।

कायर की सी मौत जगत में
सबसे गर्हित हिंसा
जीने का अधिकार जगत में
सबसे बड़ी अहिंसा।

प्राण प्राण में आज रक्त की सरिता खौल उठी है।
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।

(3)

इस मिट्टी के गीत सुनाना
कवि का धन सर्वोत्तम
अब जनता जनार्दन ही है
मर्यादा-पुरुषोत्तम।

यह वह मिट्टी जिससे उपजे
ब्रह्मा, विष्णु, भवानी
यह वह मिट्टी जिसे
रमाए फिरते शिव वरदानी।

खाते रहे कन्हैया
घर घर गीत सुनाते नारद,
इस मिट्टी को चूम चुके हैं
ईसा और मुहम्मद।

व्यास, अरस्तू, शंकर
अफलातूँ के बँधी न बाँधी
बार बार ललचाए
इसके लिए बुद्ध औ' गांधी।

यह वह मिट्टी जिसके रस से
जीवन पलता आया,
जिसके बल पर आदिम युग से
मानव चलता आया।

यह तेरी सभ्यता संस्कृति
इस पर ही अवलंबित
युगों युगों के चरणचिह्न
इसकी छाती पर अंकित

रूपगर्विता यौवन-निधियाँ
इन्हीं कणों से निखरीं
पिता पितामह की पदरज भी
इन्हीं कणों में बिखरीं

लोहा-ताँबा चाँदी-सोना
प्लैटिनम् पूरित अंतर
छिपे गर्भ में जाने कितने
माणिक, लाल, जवाहर

मुक्ति इसी की मधुर कल्पना
दर्शन नव मूल्यांकन
इसके कण कण में उलझे हैं
जन्म-मरण के बंधन

रोई तो पल्लव पल्लव पर
बिखरे हिम के दाने,
बिहँस उठी तो फूल खिले
अलि गाने लगे तराने।

लहर उमंग हृदय की, आशा—
अंकुर, मधुस्मित कलियाँ

नयन-ज्योति को प्रतिछवि
बन कर बिखरीं तारावलियाँ

रोमपुलक वनराजि, भावव्यंजन
कल कल ध्वनि निर्झर
घन उच्छ्वास, श्वास झंझा
नव-अंग-उभार गिरि-शिखर

सिंधु चरण धोकर कृतार्थ
अंचल थामे छिति-अंबर।
चंद्र-सूर्य उपकृत निशिदिन
कर-किरणों से छू छू कर।

अंतस्ताप तरल लावा
करवट भूचाल भयंकर
अंगड़ाई कल्पान्त
प्रणय-प्रतिद्वंद्व प्रथम मन्वंतर

किस उपवन में उगे न अंकुर
कली नहीं मुसकाई
अंतिम शांति इसी की
गोदी में मिलती है भाई

सृष्टिधारिणी माँ वसुन्धरे
योग-समाधि अखिण्डत,
काया हुई पवित्र न किसकी
चरण-धूलि से मण्डित।

चिर-सहिष्णु, कितने कुलिशों को
व्यर्थ नहीं कर डाला
जेठ-दुपहरी को लू झेली
माघ-पूस का पाला।

भूखी-सूखी स्वयं
शस्य-श्यामला बनी प्रतिपाला,
तन का स्नेह निचोड़
अँधेरे घर में किया उजाला।

सब पर स्नेह समान
दुलार भरे अंचल की छाया
इसीलिए, जिससे बच्चों की
व्यर्थ न कलपे काया।

किन्तु कपूतों ने सब सपने
नष्ट-भ्रष्ट कर डाले,
स्वर्ग नर्क बन गया
पड़ गए जीने के भी लाले।

भिगो भिगो नख-दंत रक्त में
लोहित रेख रचा दी,
चाँदी के टुकड़ों की खातिर
लूट-खसोट मचा दी।

कुत्सित स्वार्थ, जघन्य वितृष्णा
फैली घर घर बरबस,

उत्तम कुल पुलस्त्य का था
पर स्वयं बन गए राक्षस।

प्रभुता के मद में मदमाते
पशुता के अभिमानी
बलात्कार धरती की बेटी से
करने की ठानी।

धरती का अभिमान जग पड़ा
जगा मानवी गौरव,
जिस ज्वाला में भस्म हो गया
घृणित दानवी रौरव।

आज छिड़ा फिर मानव-दानव में
संघर्ष पुरातन
उधर खड़े शोषण के दम्भी
इधर सर्वहारागण

पथ मंजिल की ओर बढ़ रहा
मिट मिट नूतन बनता
त्रेता बानर भालु,
जगी अब देश देश की जनता।

पार हो चुकी थीं सीमाएँ
शेष न था कुछ सहना,
साथ जगी मिट्टी की महिमा
मिट्टी का क्या कहना?

धूल उड़ेगी, उभरेगी ही
जितना दाबो - पाटो,
यह धरती की फसल
उगेगी जितना काटो-छाँटो।

नव-जीवन के लिए व्यग्र
तन-मन-यौवन जलता है
हृदय-हृदय में, श्वास-श्वास में
बल है, व्याकुलता है।

वैदिक अग्नि प्रज्वलित पल में
रक्त मांस की बलि अंजुलि में
पूर्णाहुति-हित उत्सुक होता
अब कैसा किससे समझौता ?

बलिवेदी पर विह्वल-जनता जीवन तोल उठी है
आज देश की मिट्टी बोल उठी है।



[नाविक-विद्रोह के प्रचण्ड क्रांतिकारी ओजस्वी स्वरूप से प्रभावित]

मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला

घर-आँगन सब आग लग रही
सुलग रहे वन-उपवन
दर-दीवारें चटख रही हैं
जलते छप्पर - छाजन

तन जलता है, मन जलता है
जलता जन - धन - जीवन
एक नहीं जलते सदियों से
जकड़े गर्हित बन्धन।

दूर बैठकर ताप रहा है, आग लगाने वाला
मेरा देश जल रहा, कोई नही बुझाने वाला।

भाई की गर्दन पर
भाई का तन गया दुधारा
सब झगड़े की जड़ है
पुरखों के घर का बँटवारा

एक अकड़ कर कहता
अपने मन का हक ले लेंगे
और दूसरा कहता
तिल भर भूमि न बँटने देंगे।

पंच बना बैठा है घर में, फूट डालने वाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

दोनों के नेतागण बनते
अधिकारों के हामी
किन्तु एक दिन को भी
हमको अखरी नहीं गुलामी

दानों को मोहताज हो गए
दर दर बने भिखारी
भूख, अकाल, महामारी से
दोनों की लाचारी

आज धार्मिक बना, धर्म का नाम मिटाने वाला
मेरा देश जल रहा, कोई नही बुझाने वाला।

होकर बड़े लड़ेंगे यों
यदि कहीं जान मैं लेती
कुल-कलंक -संतान
सौर में गला घोंट मैं देती

लोग निपूती कहते पर
यह दिन न देखना पड़ता
मैं न बंधनों में सड़ती
छाती में शूल न गड़ता

बैठी यही बिसूर रही माँ, नीचों ने घर घाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

भगतसिंह, अशफाक,
लालमोहन, गणेश बलिदानी
सोच रहे होंगे, हम सब की
व्यर्थ गई कुरबानी

जिस धरती को तन की
देकर खाद, खून से सींचा
अंकुर लेते समय, उसी पर
किसने ज़हर उलीचा

हरी भरी खेती पर ओले गिरे, पड़ गया पाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

जब भूखा बंगाल, तड़प
मर गया ठोक कर किस्मत
बीच हाट में बिकी
तुम्हारी माँ बहनों की अस्मत

जब कुत्तों की मौत मर गए
बिलख बिलख नर-नारी
कहाँ गई थी भाग उस समय
मरदानगी तुम्हारी

तब अन्यायी का गढ़ तुमने क्यों न चूर कर डाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

पुरखों का अभिमान तुम्हारा
और वीरता देखी,

राम-मुहम्मद की सन्तानों
व्यर्थ न मारो शेखी,

सर्वनाश की लपटों में
सुख-शान्ति झोंकने वालो
भोले बच्चों, अबलाओं के
छुरा भोंकने वालो

ऐसी बर्बरता का इतिहासों में नहीं हवाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

घर घर माँ की कलख
पिता की आह, बहन का क्रन्दन
हाय, दुधमुंहे बच्चे भी
हो गए तुम्हारे दुश्मन ?

इस दिन की खातिर ही थी
शमशीर तुम्हारी प्यासी ?
मुँह दिखलाने योग्य कहीं भी
रहे न भारतवासी।

हँसते हैं सब देख गुलामों का यह ढंग निराला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।

जाति-धर्म-गृह-हीन
युगों का नंगा-भूखा-प्यासा
आज सर्वहारा तू ही है
एक हमारी आशा

ये छल-छंद शोषकों के हैं
कुत्सित, ओछे, गन्दे
तेरा खून चूसने को ही
ये दंगों के फन्दे

तेरा एका, गुमराहों को राह दिखाने वाला
मेरा देश जल रहा, कोई नहीं बुझाने वाला।



जनवाणी
अप्रैल, 1947

{हिन्दू मुस्लिम दंगों की बर्बर रक्तस्नात
{विभीषिका से व्यग्र होकर रचित

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के प्रति*

पददलित देश के स्वाभिमान
जनयुग-जागृति के प्रथम चरण
हे युग द्रष्टा, जनपथ-स्रष्टा
असमय कर डाला मरण-वरण।
तुम श्रमिक-वर्ग के श्रम सजीव
नवयुग संघर्षों के प्रतीक
किस ओर प्रगति का पथ प्रशस्त
तुम दिखा गए हो अमर-लीक
चेतना नयी, विश्वास नया
तुम रूढ़िवाद पर घन-प्रहार
जन-जीवन पर आस्था अटल
रचनातुर नवसंस्कृति उदार
अर्चना सफल, जिस दिन होगी
जर्जर - जगती शोषण-विहीन
क्या मूल्य तुम्हारा आँकें हम
सदियों से शोषित पराधीन।
हे व्रती! तुम्हारे व्रत में संचित
कोटि-कोटि कंठों की वाणी अनिर्बंध
हे कृती, तुम्हारी कृति में मिलती
मातृभूमि की मिट्टी की सोंधी सुगंध।

---

*(प्रेमचन्द-जयन्ती, 8 अक्टूबर, 1945)

मेरे कथाकार

गौरव-गिरा-ज्ञान
तुम देश अभिमान
चिर-मूक के गान, जन-जन हृदय-हार
मेरे कथाकार, मेरे कथाकार।

युग के विषम बोल
तुमने दिए खोल
अग-जग उठा डोल, नव-क्रान्ति संचार
मेरे कथाकार, मेरे कथाकार।

शोषित-दलित प्राण
अज्ञात, अनजान
तुमने दिया ज्ञान, तुमने किया प्यार
मेरे कथाकार, मेरे कथाकार।

कल्मष किया क्षार
तुम स्नेह-साकार
हे ज्योति आधार, शत-शत नमस्कार
मेरे कथाकार, मेरे कथाकार।



[काशी जननाट्यसंघ की ओर से आयोजित प्रेमचन्द-स्मृति दिवस पर गाया गया समवेत गान]

विडम्बना

मैं ने गाए हैं गान जगत-जीवन के
मैं ने खोले हैं भेद यहाँ कन-कन के
अभिशापित युग में जन्म हुआ है मेरा
वरदान बन गए मान मनुज-क्रंदन के

मैंने जब देखा झुलस चुका था नंदन
अवशेष कहानी मात्र कली का यौवन
दो बूंदों की ले प्यास मरुस्थल रोया
पर छिपा उसे, छा गया सिंधु का गर्जन।

नारी की गोदी पला, बना वैरागी
सब कुछ छोड़ा, पर एक न तृष्णा त्यागी
देखा भी नहीं कि पात्र हृदय का छिछला
मिट्टी की पाकर देह अमरता माँगी।

सुर-असुर पुनः कर रहे आज संघर्षण
मेरे युग में फिर हुआ सिंधु का मंथन
जो देख हलाहल मुँह बिचका कर भागा
वह व्यर्थ माँगता फिरा सुधा के दो कन।

ईश्वर ईश्वर में आज पड़ गया अंतर
टुकड़ों-टुकड़ों में बँटा मनुजता का घर
ली ओढ़ धर्म की खोल, पर हृदय सूना
पूजन-अर्चन सब व्यर्थ देवता पत्थर।

सोने की सुन्दर देह आत्मा जर्जर
सागर में प्यासी मीन, मेघ आडंबर
है 'कला कला के लिए' व्यंग जीवन का
ऊपर चमकीला कलश, नींव में खँडहर

कलकल, मरमर, अथवा जगमग अंबर का
कुछ अर्थ नहीं यदि मन का मनका सरका
भूखी कल्पना त्रिशंकु, गाधिसुत विस्मित
जीवन ही एक प्रतीक सूक्ष्म अंतर का।



युगान्तरकारी कवि निराला के प्रति

हे चिर-विदग्ध !

शैशव से ही, कुछ मूक चिताओं के सिंगार
लेकर, तुम दहके बन अंगार
निर्धूम प्रज्वलित वह्नि वेष
अपनी ही सीमा में अशेष
करने को आतुर नामशेष
युग युग के कल्मष अनाचार।

तुम प्रखर चण्ड मार्तण्ड
तुम्हारे उस. उस में नई दृष्टि
ताण्डव का मुक्तोन्माद प्रथम
फिर उथल-पुथल फिर प्रलय वृष्टि
हो नष्ट-भ्रष्ट जग जीर्ण-शीर्ण
फिर नई भूमि, फिर नई सृष्टि

तुम नव द्रष्टा,
विस्फारित नयनों के आगे
आश्वस्त अभय जीवन-प्रसार
लेकिन जर्जर जग-
रूढ़िग्रस्त, पाया न समझ
मनु के बेटे का अहंकार।

आया यौवन तुम झूम उठे
झूमा मधुवन
उन्मद कन-कन
सब रहे देखते लुटे-लुटे
वृन्दावन-कुंजों में मनहर
फिर किसी विगत मूर्छा का स्वर
कल्पना लोक में लौट पड़ा मन्थर, मन्थर

बाजी वंशी झंकृत वीणा के तार तार
सहसा सिहरी पुलकित करील की डार डार
तुम आए समुद सहास तरल
ले एक हाथ में सोम, अपर में हालाहल

वह कौन कली
जो तुम्हें देख मुसका न उठी
वह कौन सुछवि
जो तुम्हें देखकर नहीं लुटी

कितनी रजनीगंधा, बेलाफी, जुही
नहीं बंध गईं मौन आलिंगन में
कितने अधरों ने ढाल दिया, जीवन का रस
सर्वस्व नहीं, मधु की पहली ही छलकन में
मस्तक पै बन-बेला, चम्पक
नत हर-सिंगार पद-वन्दन में।

लेकिन सहसा हत, स्तंभित से
आश्चर्यचकित सब ने देखा

उन पतले पतले होठों पर
थी खिंची एक हल्की रेखा

जिसमें मदिरा की लाली भी
जो हालाहल-सी काली भी ?

सब चौंक पड़े कवि यह क्या है ?
किस महाप्रलय की तैयारी ?
तुम दोनों हाथों पीते क्यों
मधु और गरल बारी, बारी।

आरक्त नयन कवि ने खोले
देखा कुछ पल
मुस्कान मूक उत्तर केवल
तुम मन्त्रमुग्ध
हे चिर विदग्ध।

(2)

आर्यों के पौरुष मूर्तिमान,
द्वादशादित्य
कोई बैताल तुम्हें पाकर
कह उठता 'जय विक्रमादित्य' !
वह विरल-विरल छवि एकाकी

मैं सोच रहा किन हाथों ने
किस तरह तराशी होगी, बिना हाथ डोले
क्या साँस रोक या समाधिस्थ ?

किस छेनी से कैसे आँको ?
जिस शिल्पी ने विख्यात रोम के महावीर
सीजर की मूर्ति तराशी थी
वह कहीं देख पाता तुमको
तो एक बार हिल जाती उसकी भी टाँकी।

जाने कब शिव के जटा-जूट से
भागीरथी प्रथम छूटी
कब अनायास वाणी फूटी
आक्षितिज प्रतिध्वनित हुआ
मंद्र-घन गर्जन स्वन
आसिंधु संतरण करता था
वह राग प्रमन।

उपवन की उर्वर मिट्टी में
युग युग से संचित जो सुवास
पाकर नव-स्पर्श तुम्हारा वह फूटी सहास,
किस परिजात के 'परिमल' की नव गन्ध-ग्रन्थ
फूटी बन कर निर्बन्ध छन्द
कू -कू कर कुहुक उठा उपवन
गमका कण कण
यों शिथिल शीत का हुआ अंत
हेमन्त बन गया नव-वसन्त।

उत्फुल्ल प्रकृति के निभृत कुंज से
आई धीमी सी पुकार

जैसे वर्षा को बूंदों पर
हो थिरक उठा पहला मलार

जो मत्त समीरण का रस पी
जड़-चेतन विमोहिता वनश्री
क्षण भर हरिणी सी चकित खड़ी
हो गन्ध-लुब्ध तव-चरणों पर यों लोट पड़ी।

जैसे हिमगिरि के पदतल से
सागर की लहर छहरती सी टकरा जाए
तन फेनोज्ज्वल
मुख हासोच्छ्वल

उद्दाम तुम्हारा यौवन था
उमड़ा निर्झर, फूटी धारा
चट्टान ढहीं, बन्धन टूटे
टूटी कारा, टूटी कारा
कुछ मेड़ बांधने वालों का भी
साथ-साथ वारा-न्यारा।

दृग-दृग में नूतन कौतूहल
यह कौन-कौन का कोलाहल

जिसमें पहला ही फूल पिरोया गया अभी

तुम उस माला के धागे से
गहरी निद्रा में जागे से

अस्फुट स्वर धीमे से बोले 'यह अनामिका'
फिर फूटी तान नई, गान नए
माल बनी गीतिका
मुखरित उपवन आँगन
छाया प्रशमन प्रशमन
गमक उठी वीथिका।

फिर उठा मन्द्र से तार तलक
फिर तार मुदार उदार झलक
कंपन की वह बंकिम हिलोर
जिससे विद्युत-कण बंधे
और आकंपित करते ओर-छोर।

कुछ बाह्य दृष्टि कुछ निज में रम
तुम एक विरोधाभास स्वयम्
तुम निर्गुण सगुण, अर्धनर-नारीश्वर
के रूप परुष-कोमल
तुम विषम-समन्वित अमिय-गरल
तुम तुराधार या सुरसरि-जल—

दोनों समान वर चुके, शुद्ध मन का नियोग
क्या विरति और आसक्ति और क्या योग-भोग
तुम अस्ति-नास्ति के संधि-पत्र-
साधना मध्य भी साम्य तुम्हारा बल, पौरुष

चिन्ता की धारा मुहुर्मुहुर्विच्छिन्न
धधकती भ्रान्ति विवश

तुम युग के वह दुर्जय प्रवाह
जो त्रस्त-ध्वस्त कर रहा विषमता के कगार
जो महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन
वह फूट पड़ी बन नई शक्ति का मुक्तद्वार।

चाहते कथा कहना युग युग को अपर व्यास
या पुनः शक्ति आराधन हो
मर्य्यादित संयम 'तुलसिदास'

तुम मुक्तक और प्रबन्ध
कभी पंखुरियों की झीनी फुहार
फिर युगसन्धि, जागरण
सिंधु का महोल्लास विक्षुब्ध ज्वार

तुम अनय विषमता के विरुद्ध
पायक-सायक संधान
आज आकर्ण धनुर्ज्या खड़े तान
आर्य्यों के पौरुष मूर्त्तिमान।

(3)

हे नूतन-छवि के कलाकार
गुंजित अनहद-रव सहस्रार
अब क्यों उदास अस्ताचल की लाली निहार ?
थक गए ? होंठ में पपड़ी, रुँधा कंठ
सजल आँखें धूमिल
सच, इस मंज़िल का ओर-छोर
[illegible] आना मुश्किल

पर अभी तना है वक्ष
धमनियाँ रक्तमयी
छाती धड़ धड़
मांसल-जंघा
उन्मुक्त साँस
दृढ़ अडिग चरण।

इसलिए बढ़ो
गिरि शृङ्ग चढ़ो
आ रहे अन्यथा जो पीछे
देखते तुम्हारी चरण-रेख
क्या सोचेंगे ? क्या मार्गभ्रष्ट
या विधि-विडम्बना का कुलेख ?

आगे समाप्त सब चिन्ह
नहीं दिखलाई देंगे दीप्ति-वरण
तो नव-उत्साही नाविक भी
हिचकेंगे शायद खेने में
डगमग नौकाएँ सिंधु-तरण।

तुम सोच रहे हो संभवतः
आधे जीवन के पार खड़े
आजीवन समरारूढ़, झेलते वार
आन पर रहे अड़े

फिर भी तम ज्यों का त्यों प्रशस्त
मानव की आत्मा पड़ी हुई पहली ही जैसी अस्त-व्यस्त

आजीवन जलना व्यर्थ गया
सारा श्रम हाय हुआ निष्फल
सुन रहे कर रहा व्यंग भरा
'फिर अट्टहास रावण खल खल'।

तुमसे, जिसकी चुप रही व्यथा
पहले पहले यह सुनो कथा

'वह गया स्नेह-निर्झर संबल
रह गया रेत, ज्यों तन केवल'

क्या क्या दिन देखे, क्या न सहा
क्या क्या विपदाएँ नहीं ढहीं
फिर भी तुम जिसने आज तलक
अपनी अस्फुट धीमी उसास भी
मुक्त-व्योम से नहीं कही

तुम एकाकी अजनबी बने
दर दर घूमे, भटके व्याकुल
सने में सिसके, अकुलाए
पर देख नहीं पाया कोई
गीले कपोल, भीगा आँचल।

यद्यपि न छिपा, जानती मही
दुख ही जीवन की कथा रही
फिर भी तुम नवस्रष्टा, शिल्पी, उद्धत मनोज
व्यापक कल्पना, विधुर अन्तर, उन्मुक्त ओज

जब जब आया भूचाल
लिया तुमने सम्हाल

करतलगत कर उफान
पत्रों की छाती पर संयत उतार
झंकृत कर डाले, वीणावादिनि
की वीणा के सप्त तार।

पर वात्याचक्र, प्रभंजन
आवर्तित . मण्डल
घेरे था धूम्र कुहासे-सा
सब भूमण्डल।

पिस गए उसी में तुम
जिसमें पिसता आया जर्जर-समाज
जिसने जीवन की सुख-समृद्धि
कर डाली भस्मीभूत आज।

सदियों से चूस-चूस जिसने
कर दिया खोखला अंतर-तन
जीने की इच्छा व्यग्र बनी
हो गए लुप्त जीवन-साधन

दाने दाने को तरस गईं अगणित आँखें
दो बूंद दूध के लिए ललक
हिचक लेकर शिशु हुए मौन,
माताओं की छाती विदीर्ण, अवरुद्ध कंठ, रह गई कलख

वे-बरसे बिखर गए कितनी साधों के घन
कृमि-कीट सदृश फ़ुट-पाथों पर
मनु की प्यारी संतान मिट गई बिलख बिलख

कितने उद्भट-भट कलाकार
जो देश जाति के स्वाभिमान
जिन पर युग का दायित्व-भार
हत्, आयुक्षीण, चल दिए
प्रज्वलित विषपायी,

मैं पूछ रहा हूँ अनाचार की सत्ता से
युग की इस विषम व्यवस्था से
इस विभीषिका का कौन आज उत्तरदायी ?

किस हिंसक-पशु की दाढ़ों से
उन्मुक्त-हरिण भयभीत त्रस्त
किसने मेरे कवि का जीवन
कर डाला हतप्रभ अस्त-व्यस्त

किसकी शोषण की भट्ठी में
जल गईं युगों की आशाएँ—
माँ का दुलार
भाई भाई का सहज प्यार
विष ही विष चारों ओर, भयानक आर्तनाद
घुटती साँसें, करुणा विगलित कातर-पुकार ।

ओ निर्दय तस्कर, नर-पिशाच
युग माँग रहा इसका उत्तर

प्रतिशोध माँगता है तुझसे
जन-वाणी का उत्तेजित स्वर।

कल के पदमर्दित उठ बैठे
हो सावधान
ललकारों पर ललकार
बज रही रणभेरी

जन-जन जागे, हुंकार उठी
जलती मशाल
तम काँप रहा
पौ फटने में थोड़ी देरी।

इसलिए शक्ति-पूजन हो फिर
नव-दुर्गा अष्टभुजा काली का आवाहन
अपना बल पौरुष याद करो
अवरुद्ध कण्ठ को वाणी दो
घर-घर में रण का आमन्त्रण।

कह दो कवि इस पूर्णाहुति में
कोई न रहे पीछे
गृह गृह में गूँज उठे
युग की गुहार,
गम्भीर-घोष-घन ओज तुम्हारा फूट पड़े
'जागो फिर एक बार'

हे महावीर,
क्या याद दिलानी होगी फिर
प्रक्षिप्त तुम्हारी महाशक्ति
जो समिधा के प्रभाव में
अब तक पड़ी रही बन कर विरक्ति
युग की दानवता हिंसा, शोषण, अनाचार—
का आते ही मन में विचार

'तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष
दृढ़ वायु वेग बढ़, डुबा अतल में दीनभाव'
आप्लावित कर दो वसुंधरा के सब अभाव।
आ रही नई पीढ़ी युवकों की साथ साथ
तव चरणों पर निज झुका माथ

उत्सुक, अमंद
दृढ़व्रती सजग सोचती हुई
जिस जगह गिरेगा देव तुम्हारा रक्तबिंदु
हम वही तोल देंगे अगणित सिर रक्तस्नात।
संगठन हमारा देख शत्रु हो रहा पस्त
चाहिए हमें तो सिर्फ तुम्हारा वरद-हस्त
फिर देखो तुम मेरे फ़क़ीर अलमस्त

हम कोटि-कोटि कण्ठों का ले विश्वास अमर
वाणी में जन-जन की विह्वल आकांक्षा का नव-मुखरित-स्वर

दुर्गम पथ पर
बढ़ चले निडर
तम-तोम रौंदते हुए
कण्ठ में अनल-गान
शीघ्रातिशीघ्र लाने को
वह स्वर्णिम-विहान
जिसकी शीतल छाया में होगा
शांति-स्नेह-सुख नव-सर्जन
सब विश्व एक परिवार, एक घरबार
एक चूल्हा, आँगन।
फिर उपवन के कलि-कुसुम विवश
पोषक रस खाद्य बिना परवश
इस तरह नहीं झर पाएँगे
मेरे कवि, पुत्री पुत्र किसी मानव के
औषधि दूध बिना
इस तरह नहीं मर पाएँगे
सब पुलक-हुलास भरे, दधिमुख
पहिने घूमेंगे चीनांशुक
दर दर मारा न फिरेगा फिर
युग का सर्वोत्तम कलाकार
यों धूलिधूसरित, मलिन वस्त्र
पैरों में फटी बिवाई ले
बेचता फिरेगा नहीं
लेखनी का अमूल्य सर्वाधिकार।

उस दिन की बाट जोहते हम--
उद्भासित होगी अणु अणु में
जब जनयुग की महिमा अपार
खुल जाएगा बहुजनहिताय
जन-संस्कृति का नव मुक्तिद्वार
स्वागत में कलियाँ बिहँसेंगी
सौरभ देगा आँचल पसार

कण कण अपनत्व लुटाएगा
सिमटे सिमटेगा नहीं प्यार
सर आँखों पर ले तुम्हें, सभी
पाकर फूले न समाएँगे
हे देव! तुम्हारी वाणी से
गृह-गृह मुखरित हो जाएँगे

गद् गद् उर, अपलक नयनों से
अभिमान सहित तुमको निहार
न्योछावर होंगे बार बार
हे नूतन-छवि के कलाकार।



(महाकवि निराला की 50वीं वर्षगाँठ पर)

सहिष्णुता का सौहार्द

(1)

तुमने बहुत सहा जीवन में, लेकिन और सहो

साथी-संगी बहुत डगर में

पथ सब का अपना

साथ तुम्हारे जागृति के क्षण

शेष सभी सपना

ऐसी भी क्या कथा कि जीवन भर कहते न चुकी

अपनी पी लो मौन, पराई जी भर व्यथा कहो।

(2)

सारे जीवन में मिल पाई

एक यही थाती

अपनी-बीती चलते-फिरते

कही नहीं जाती

सबका अपना अपना बोझा बाँट छाँट कैसो

बैठ न उठ पाओगे, चल कर ही थकान विसरो।

(3)

औरों को सुख-शांति

स्वयं विश्राम नहीं लेना

जो जितना विदग्ध

उतना ही मूल्य उसे देना

यह समझो वरदान कि जग की व्यथा तुम्हारी भी
आँसू थाम हँसो जिससे पथ-पार्श्व उदास न हो।

(4)

मलिन अश्रुकण अशुभ, यहाँ
श्रमकण की ही पूजा
स्वर्ग-नर्क के लिए
बनाया गया न पथ दूजा।

तुम जंगम तरुवर से पग-पग शीतल छाँह लिए
धरती से ले शक्ति, गगन का ताप शीश पर लो।

(5)

जब घुमड़न न रुके रोके
तब मन-घन बरस पड़ो
तन की खाद बिखेर जगत् में
ज्योति बने विचरो

मिट्टी की सोंधी सुगंधसम गमक उठो सहसा—
बूँद बूँद को जोड़, शिलाएँ तोड़, अबाध बहो।



आशय

कल मेरे उपवन में
पतझर के पत्ते उड़ते थे खड़-खड़
संकोच भरी नंगी डालें
लज्जा से जाती थीं गड़-गड़

तरु-तरु उदास कंकाल-मात्र
जक, ताक रहे थे शून्य-विधुर
ज्यों हो जीवन का अंत सदा से
दग्ध, विषाद-ग्रस्त जर्जर

आया वसंत कोंपल फूटी
नव-सृजन शक्ति-सी लाल लाल
डाली डाली पर किलक उठे
नव-जात मांसल शिशु-प्रवाल

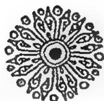
पल्लवित लता, पुलकित मनोज
आशा हरीतिमा गई फैल
बौरे रसाल पर मुग्ध
कुहुकने लगी कोयलिया गैल गैल।

अपना नवयौवन देख, सिहर,
नत, सोच रही जीवन-डाली

यह वार वार मिट-मिटकर
फिर बनने का क्रम कैसा माली

नव-नव विकसित शाखाओं पर
अलि-कलि-हिलमिल खिल सकें खेल
या हरियाली इसलिए कि
तन, आतप की लपटें सके झेल

हे विश्व ! तुम्हारे लिए सदा
मैं सहूँ शीश पर जलन-घाम
मेरी छाया में श्रांत-पथिक
खोएँ थकान, पाएँ विराम।



आग्रह

आज तुमसे दूर, कितनी दूर
मैं बैठा हुआ हूँ अनमना-सा
कुतरता नाखून, तन-मन-चूर
स्वयं के ही प्रति खिचा कुछ कुछ तना-सा,

कल तुम्हारे पास था लिपटा हुआ मधु-चाँदनी में
खोजता खोए उदधि का ज्वार,
आज भाटा, सामने फैला हुआ है
सिक्त सिकता का रुपहला प्यार।

विरल-स्मृतियों-सी जुटी है
गगन-मगन अथक कपोतों की गुमकती भीड़
रवि बुला लाया इन्हें जीवन चुगाने
उचित ही सूने पड़े हैं नीड़,

बीच में ही नींद टूटी अप्सरा की
भग गई कटि में लपेट दुकूल
शिथिल अस्तव्यस्त शय्या कह रही है
रात में बिखरे यहाँ थे फूल।

× × ×

भूल मत करना, नहीं मैं सिंधुतट पर
अथिर-मन-सा रेलवे का एक वेटिंग रूम

मुंहजली चिर-मनचली इस कल्पना को क्या कहूँ मैं
एक क्षण में जूहू आई घूम,
सामने है टीन का रोड
देर से ठहरी हुई है मालगाड़ी एक
क्या उसे ठहराव का सुख ?
बोझ हल्का ? मुक्त-कवि की टेक,
सामने पोस्टर भुलाया दे रहे हैं
ताज देखो, कुतुब लेखो, ये बनारस के सुहानेघाट, यह कश्मीर
जानते शायद नहीं वे
मूक-चित्र विचित्र होकर भी नहीं बे-पीर,
अभी बैरा दे गया है
टोस्ट बासी और ठंडी चाय
आज तक उसने न जानी
इस अचेतन केटली के भी हृदय में हाय,
साँझ को ही चल दिया होता अगर मैं
तो न जाती छूट बाम्बे-मेल ?
रात के पिछले पहर का यात्री मैं
भटकता फिरता रहा बेमेल।
मैं यहाँ आराम से लेटा हुआ हूँ
भग गया है मन तुम्हारे पास
कौन समझाए कि यह युग बुद्धिवादी
प्यार-पीड़ा (दीन-दुनिया) मान-लज्जा
बन गए विद्रूप या उपहास
बढ़ गई है समय की गति

थिर नहीं पड़ते किसी के पैर
इस प्रवाह-निवाह में गलता हुआ ढलता चले जो
है उसी की खैर,
आज गठरी बांध चल सकता न कोई
स्वयं धरती के हृदय में घाव,
सब पुराने रास्ते घिस-घुम गए हैं
सर्वहारा बन सके जो वह बढाए पाँव,
ठूंठ-तरु के कोटरों में
वृद्ध-गिद्ध कराहते निरुपाय
दग्ध-दावा की दहक में उग रहे अंकुर सुनहले
कुलबुलाते नीड़-वन-प्रच्छाय,
आज इस संक्रमण-बेला में मिले तुम
हाय जी भर कर न पाया बात
तट बिचारा किस तरह सुथरा रहे
जब लहर व्याकुल कर रही आघात पर आघात,
व्यक्ति मेरा सोचता है, दिन गया
लड़ने-झगड़ने तुम न पहुंचे आज
खटखटाने द्वार आगंतुक न आया
पर्त हल्का धूल का ओढ़े पड़े सब साज,
किंतु ठाट समष्टि का मुसका रहा है
उचित ही है, व्यर्थ भावुक अब न बन नादान
छोड़ दे विश्राम-आशा, फेंक दे पाथेय
अन्यथा स्वर-साधना का व्यर्थ सरगम,
अर्थहीन मुमूर्ष बासी तान,

मैं प्रवासी था दिया आश्रय तुम्हीं ने
हो सदय, यह भूल सकता मैं न
आज घृत से अधिक इंधन की जरूरत
प्रश्न यह लेने न देता चैन।



इन गीतों के लिए तुम्हारा ऋणी रहूँगा मैं आजीवन

याद नहीं कब मिली प्रेरणा
कब अनबूझ पहेली बूझी,
यह भी याद नहीं कब सहसा
मुझको कवि बनने की सूझी,

इतना याद कि दो नयनों को देख
हो उठा था मन उन्मन
अनायास ही एक दिवस
सूने में हृदय कर उठा गुन-गुन

क्या है छंद और लय क्या है
तब इसका कुछ ज्ञान नहीं था
मात्रा, स्वर, संगीत मिलाकर–
गीत लिखूं, यह भान नहीं था

कुछ बेचैनी थी अंतर में
मन अकुला-अकुला उठता था,
कभी स्वप्न में हाथ उठाकर
कोई मुझे बुला उठता था।

अथक प्रतीक्षा थी आँखों में
अतर में आतुर अन्वेषण,

पहला परिचय था जीवन से
पहली थी मानस की धड़कन,

हानि-लाभ का ज्ञान नहीं था
याद नहीं क्या लिया, क्या दिया
नया-नया लगता था कण कण
नयी-नयी लगती थी दुनिया,

होठ काँप उठते थे, भाषा
मूक-मुग्ध-सी कुछ रटती थी
कविता नहीं जानता लेकिन,
बिना लिखे छाती फटती थी,

क्या हैं उपादान कविता के
क्या अनुभूति-सिद्ध उसके गुण
कवि कैसे बन गया
पूछते हैं मुझसे अब आलोचक-गण

मैं खोया-सा उन्हें देखता
सोच रहा कैसे समझाऊँ
अलंकार लक्षण-ग्रंथों के
ज्ञाता से कैसे बतलाऊँ ?

हाय, अभाव तुम्हारा मुझको देता रहा सदा प्रोत्साहन,
इन गीतों के लिए तुम्हारा ऋणी रहूँगा मैं आजीवन।

(2)

इस मिट्टी के दीप, चेतना की
वत्ती को स्नेह मिला जब
कहा विरोधी तत्त्वों ने, बस
और चाहिए एक जलन अब !

तुमने लपटों की उँगली से
मेरा स्नेह-दीप जब बाला
सहसा ज्योति जली अंतर में
अंधकार बन गया उजाला

पहला ताप मिला जीवन को
शीतलता सकुचाकर झीमी,
तब से आज तलक दीपक की लौ
पल भर भी हुई न धीमी

आँधी आई, पानी बरसा
राख धूल ढक-ढककर हारी,
पर न बुझी उल्टी भड़की ही,
मूल-शक्ति-सी यह चिनगारी !

बरसों भटका किया दर-बदर
इसे सुघर अंचल से ढाँके,
जब-जब स्नेह चुका, फिर दौड़ा
तुम्हें खोजने में अकुला के

कभी प्रकाशित किए गेह, पथ
कभी जलायी दिव्य आरती,
निज मनमोहन की छवि,
जिसकी आभा में राधा उतारती,

इसी ज्वाल को विधुर गोपिकाएँ
अंचल में रहीं समेटे,
ज्योति-जीविकावाले सूरज-चांद
इसी को रहे लपेटे

वाल्मीकि ऋषि, कालिदास कवि
प्रतिपल रहे इसी में तपते
तुलसी, सूर, कबीर
इसी की लपटों में रह गए सुलगते।

कभी अन्यथा उनकी वाणी में
जन-जन रस-मग्न न होते,
आग न होती तो सच कह दूँ
राम-कृष्ण या ब्रह्म न होते।

इसीलिए तो इसे छिपाए
मैं अपने को रहा परखता;
किंतु आग थी, भला आग को
अंचल से कैसे ढँक रखता?

जल-जल को गति देता
आकुल-प्राग आग को फैलाती है,

इसीलिए शायद जन-जन की
श्राग एक में मिल जाती है।

इंधन विना युगों से श्रंदर ही-
श्रंदर यह थी गुंगुवाती
विना वाह्य-संपर्क भला यह
कैसे महाज्वाल बन पाती

बाहर थी दावाग्नि प्रज्वलित
पग-पग पर बिखरे विस्फोटक,
महा-मसान बनी थी धरती
हाड़-मांस जलते थे चट-चट

उद्वेलित श्रंतर में झंझा चली
लपट बाहर को दौड़ी
एक व्यक्ति की श्राग सभी की बनी
प्रभंजन ने गति मोड़ी

कुसुमों के पथ पर प्रणयी ने
देखी नर-मुण्डों की माला,
स्नेह-ममत्त्व स्वप्नवत्
जलती घर घर सर्वनाश की ज्वाला,

कवि ने अधरों के अमृत में
देखी कालकूट को स्याही,
सुन्दरता में चिर-विरूपता की
पड़ती काली- परछांही,

भवन बनाने वालों का
अपना कोई घरबार नहीं था,
कहाँ मुग्ध-अभिसार कि
जिनको जीने का अधिकार नहीं था,

अन्न उगाने वालों के बेटे
दानों को तरस रहे थे
खाली पेट दिखाने पर
ओले-गोली बम बरस रहे थे

मधुर-गृहस्थी जिनकी
नाबदान के कीड़ों से भी बदतर
छाती की पसलियाँ शेष
संगीनों से करतीं प्रत्युत्तर,

वह प्रिय देखा, जिसकी प्रेयसि
हाड़-मास की ठठरी भर थी
कली वृंत पर खिलने के—
पहले ही लगती झरी झरी थी,

मेरे युग में हाय, मिट गई
नर-पशु के अंतर की रेखा
मानव-श्वान एक टुकड़े पर
टूट रहे वह दिन भी देखा

जिसे समझता था अनहोनी
वही सत्य बन व्यंग कर गयी

खुलेग्राम सड़कों पर मानवता
कुत्तों की मौत मर गयी

भाई ने भाई के उष्ण रक्त से
तर्पण करना चाहा,
रक्त स्तनों का पीकर नवयुग का
शिशु मूक अजान कराहा

सिहरा शिल्पी, रंग पुत गए
छूट पडी कूची कल्याणी
कला कुण्ठिता, वाक् अर्थ-हृत
रुद्ध हो गई कवि की वाणी,

इस विभीषिका पर संज्ञागत
जपता 'कला कला' की माला
तो धिक् धिक् मानव-तन मेरा
निष्फल दग्ध हृदय की ज्वाला,

इतनी व्यथा देख यदि
वाणी में कहने की शक्ति न पाता,
तो मैं आत्मघात कर लेता,
अथवा सूरदास बन जाता,

मुझे सुनाई पड़ा दूर से
नव-निर्माण-वरण-वर-बाजा,
भस्मसात् कर डाले कल्मष
ज्वाल-जल का यही तक़ाज़ा,

दुनिया नई बसाने की
जब देखी चारों ओर तैयारी,
जर्जर घास-फूस की ढेरी पर
मैं ने रख दी चिन्गारी,

जब मैं आगे बढ़ा, विश्व की
ज्वाला का आलिंगन करने,
जब मैं चला सिंधु की सत्ता में
अस्तित्व-बिंदु लय करने

मृतप्राय संस्कृति के हामी
बोले—'मुख मोड़े जाते हो' ?
अग्नि-गान गाकर तुम
शाश्वत सत्यों को छोड़े जाते हो ?

गोया शाश्वत-सत्य
क्लीव बनकर जीवन-यापन करना है
मानवता मिट जाय
हमें तो बस ठंडी आहें भरना है

आकुल, क्षुधित, युगों से शोषित
मेरे साथ सर्वहारा था,
उनसे क्या कहता, जिनको
शव जीवित से ज्यादा प्यारा था

जिनका कोई नहीं, उन्हें
कवि की वाणी बढ़कर अपनाए
एक आन थी, एक लाज थी
आग तुम्हारी व्यर्थ न जाए

वही आग जिससे रत्नावलि ने
तुलसी का दीप जलाया,
युग युग का संबल बन बैठी
भक्त प्रवर की कामुक काया,

आग न होती तो दुर्बल,
शोषित के प्रति अनुरक्ति न होती
बिना प्रज्वलित लौ अंतर में
भक्ति न होती, शक्ति न होती,

जब जब सस्ते आकर्षण पर
दुर्बल तन-मन रीझा, हारा
मेरे रस-लोलुप मानस को
बार बार तुमने धिक्कारा

पैदा हुआ संक्रमण-युग में
व्यग्र हृदय, उत्तप्त श्वास है
यह सच है, तुम बहुत दूर हो
किंतु तुम्हारी आग पास है

शुभ हो नव जन-वाणी

संघर्षों के सिंधु-मथन में
जीवन की साधना अमर हो—
मिटे-बने संसार, तुम्हारी इंगित पर कल्याणी
शुभ हो नव जन-वाणी

घोर निराशामय दुर्दिन में
मानव का विश्वास अमर हो—
'वह्नि बाढ़ झंझा उल्का में,' डिगें न जग के प्राणी
शुभ हो नव जन-वाणी

शान्ति-स्नेह-समता अर्जन में
नवयुग का बलिदान अमर हो
जन जन की ज्वाला से पिघले युग प्रतिमा पाषाणी
शुभ हो नव जन-वाणी



जल रहें हैं दीप, जलती है जवानी

दीप, जिनमें स्नेहकन ढाले गए हैं
वर्तिकाएँ वट बिसुध बाले गए हैं
वे नही जो आँचलों में छिप सिसकते
प्रलय के तूफ़ान में पाले गए हैं

एक दिन निष्ठुर प्रलय को दे चुनौती
हँसी धरती मोतियों के बीज बोती

सिंधु हाहाकार करता
भूधरों का गर्व हरता
चेतना का दाव चपेटे, सृष्टि धाड़ें मार रोती,

एक अंकुर फूटकर बोला कि मैं हारा नहीं हूँ
एक उल्का पिण्ड हूँ, तारा नहीं हूँ
मृत्यु पर जीवन-विजय उद्घोष करता
मैं अमर ललकार हूँ, चारा नही हूँ

लाल कोंपल से गयी भर गोद धरती की
कि लो थी जगमगाई,
लाल दीपों की प्रगीत-परम्परा
थी मुस्काई

गीत, सोहर, लोरियाँ जो भी कहो तुम
गोद कलियों से भरे

लोनी-लता झुक झूम गायी
और उस दिन ही किसी मनु ने

अमा की चीर छाती
मानवी के स्नेह में बाती डुबायी
जो जली ऐसी कि बुझने की बुझायी–
बुझ गयी, शरमा गयी, नत थरथरायी

और जीवन की वही धारा जलाती दीप सस्वर
आग पानी पर जली, मचली पिघलने लगे पत्थर

जल उठे घर, जल उठे वन
जल उठे तन, जल उठे मन
जल उठा अंबर सनातन
जल उठा अंबुधि मगन-मन

और उस दिन चल पड़े थे साथ उन्चासी प्रभंजन
और उस दिन घिर बरसते साथ उन्चासी प्रलय-घन

अंधड़ों में वेग भरते
वज्र बरबस टूट पड़ते
धकधकाते धूमकेतों की
बिखर जाती चिनगियाँ
रौद्र घन की गड़गड़ाहट
कड़कड़ाती थीं बिजलियाँ

और शिशु लौ को कहीं साया न था, सम्बल नहीं था
घर न थे, छप्पर न थे, अंचल नहीं था

हर तरफ़ तूफ़ान अन्धड़ के बगूले
सृष्टि नंगी थी अभी बल्कल नहीं था,

सनसनाता जब प्रभंजन लौ ध्वजा-सी फरफराती
घनघनाते घन की द्विगुणित वेदना थी मुस्कराती
जब झपेटों से कभी झुक कर स्वयं के चरण छूती
एक लोच कमान की तारीकियों को चीर जाती

बिजलियों से जो कभी झिपती नहीं थी
प्रबल उल्कापात से छिपती नहीं थी
दानवी तम से अकड़ती होड़ लेती
मानवी लौ थी कि जो बुझती नहीं थी।

क्योंकि उसको शक्ति धरती से मिली थी
हर कली जिस हवा पानी में खिली थी
सहनशीला, मूकतम जिसकी अतल गहराइयों में
आह की गोड़ी निगोड़ी खाइयों में—
स्नेह का सोता बहा करता निरंतर

बीज धँसता ही चला जाता जहाँ जड़ मूल बनकर
गोद में जिसके पला करता विधाता विवश बनकर

धात्री है वह सृजन के पंथ से हटती नहीं है
व्यर्थ के शिकवे प्रलय-संहार के रटती नहीं है
जानती है वह कि मिट्टी तो कभी मिटती नहीं है
आग उसकी ही निरंतर हर हृदय में जल रही है

स्वर्ण दीपों को सजीव परम्परा-सी चल रही है
हर अमा में, सर ग्रहण की ध्वंसपूर्ण विभीषिका में

एक कसकन, एक धड़कन, बार-बार मचल रही है
बर्फ़ की छाती पिघलकर गल रही है, ढल रही है,

आज भी तूफ़ान आता सरसराता
आज भी ब्रह्माण्ड फटता थरथराता
आज भी भूचाल उठते, क़हर ढहता
आज भी ज्वालामुखी लावा उगलता

एक क्षण लगता कि जीत गया अँधेरा
एक क्षण लगता कि हार गया सवेरा
सूर्य्य, शशि, नक्षत्र, ग्रह उपग्रह सभी को
ग्रस रहा विकराल तम का घोर घेरा

किंतु चुंबक लौह में फिर पकड़ होती
दो दिलों में, धमनियों में रगड़ होती
वासना की रुई जर्जर बीच में ही
उसी लौ की एक चिनगी पकड़ लेती

भोर पौ फटती, छिटक जाता उजाला
लाल हो जाता क्षितिज का वदन काला
देखते सब,
अंध कोटर, गहन गह्वर के तले पाताल की मोटी तहों को

एक नन्हीं किरन की पैनी अनी ने छेद डाला,
मैं सुनाता हूँ तुम्हें जिसकी कहानी
बात उतनी ही नयी है, हो चुकी जितनी पुरानी
जल रहे हैं दीप, जलती है जवानी

(2)

तुम मनाते हो जिसे कह कर दिवाली
यह नहीं कोई प्रथा - नूतन निराली
आज भी जग में अमा की रात काली
स्नेह से नव-मृत्तिका के पात्र खाली

अधर सूखे, गाल पिचके, दीन कटोरलीन आँखें
शलभ बेसुध छटपटाते विलग्न मन विच्छिन्न पाँखें
मुर्दनी वातावरण में धुएँ की घृणित घुटन-सी
दर-बदर फैली हुई बदबू विकट शव के सड़न-सी

उग रहीं कीटाणु की फसलें
प्रलय - अणुबम बरसता
खो गयी मानव-हृदय की सब सरसता
और जीने के लिए जीवन तरसता

युगों पहले एक दिन यों ही अँधेरा हो गया था
सूर्य्य, शशि, तारे छिपे सहसा, सबेरा खो गया था
एक काला हाथ ऊषा की ललाई धो गया था
गरज यह जो कुछ न होना चाहिए वह हो गया था

दौर नव-कृषि-सभ्यता का राम बनकर रम रहा था
कारवाँ यायावरों का बस रहा था, जम रहा था
झोपड़ों में ज्योति जीवन का प्रदीप जला गयी थी
धरा की बेटी मनुज की ब्याहता बन आ गयी थी

कि जिसके जनक ने धरती स्वयं जोती, स्वयं बोयी
कि हलकी नोक में लक्ष्मी उलझ उभरी, रही खोयी

ज़माना बाहुबल का था, स्वयंवर का बहाना था
जिसे पाना पिनाकी के धनुष पर ज्या चढ़ाना था

धनुष जो झिल न सकता था
धनुष जो हिल न सकता था
बिना अच्युत हुए जिसका
निशाना मिल न सकता था

धनुष को राम ने तोड़ा
घने घनश्याम ने तोड़ा
नया निर्माण करना था
पुराना तो पुराना था

हुई आश्वस्त भयभीता
खिली धरती, मिली सीता
कि दिशि दिशि दुंदुभी दमकी
वही जीता, वही जीता
किया जिसने अहल्या सी-शिला—
को प्रीति - परिणीता

धरा की आत्मजा कर में लिए वरमाल चलती थी
कि स्वर्णिम दीप की चल लौ अँधेरे में बिछलती थी
त्रियामा में किसी घनश्याम की छाती मचलती थी

गड़ा धन पा गया मानव कि खेती लहलहाती थी
कि गेहूँ गहगहाता था कि मक्का महमहाती थी
कि अरहर सरसराती थी कि बजरा हरहराता था
कि अलसी आँख मलती थी कि जौ में ज्वार आता था

नयन में स्वप्न ढलते थे, हृदय में प्यार आता था
फसल उठती जवानी में लहरती झूम जाती थी
हवा दो हाथ आगे बढ़ उसे झुककर उठाती थी
लिपटते ही खुदी खुद बेखुदी को चूम जाती थी

हृदय से हृदय मिलते थे, अधर से अधर मिलते थे
नयी कोंपल निकलती थी, हँसी के फूल खिलते थे

निकट जब आग आती थी
तो लज्जा भाग जाती थी

गरज यह दीपमाला सी जला करती थी धरती पर
नए अंकुर किलकते शुष्क बंजर, खुश्क परती पर

मरुस्थल लहलहाता था
कि चाहा चहचहाता था
अँधेरी रात में कोई खड़ा खेतों की मेड़ों पर
विकल विरहा सुनाता था

फड़कते होठ, सूखे तालुओं से
फिर तरी की माँग उठती थी
अचानक दिल धड़कता था
निशा भी जाग उठती थी

न फिर सोने का लेती नाम थी
जो धुर सवेरे तक
कई संसार बनते औ' बिगड़ते थे
अँधेर से उजेले तक

सहम-सी साँस जाती थी
शिथिल अंचल उठाती थी
उनींदी रात आँखों में
नए सपने बसाती थी

उभरती साँस छाती में
कि चोली कसमसाती थी
कहीं से धान की बाली
खड़ी चुप चुप बुलाती थी

चढ़ी स्वर की लहर में
भावना-सी दौड़ जाती थी
रवानी खून की बढ़ कर
समुन्दर को सुखाती थी

हवा में पेंग भरती थी
हिमालय को गलाती थी,
स्वयं मिटकर नयी हस्ती
नयी हस्ती बनाती थी

कि नव-निर्माण की वेला
विधाता को लजाती थी
बदलते दीप थे पर
स्नेह लौ को खो न पाता था

कि ब्रह्मानंद का आनंद
बासी हो न पाता था

क्षितिज से मेघ फटते थे
उषा भी खिलखिलाती थी

नए पत्तों पंखुरियों पर
नए मोती ढलाती थी

कि दिन में दीप जलते थे
कि तन में दीप जलते थे
कि मन में दीप जलते थे
निशा में दीप जलते थे
दिशा में दीप जलते थे

कि दीपों का नया त्योहार घर घर जगमगाता था
छलकता स्नेह पग पग पर नयी धुन गुनगुनाता था
पवन नद नदी निर्झर में रवानी ही रवानी थी
कली-अलि तरु-लता सब में जवानी ही जवानी थी

नए ज्योतिष्क पिण्डों से तमस की कुछ न चलती थी
क़हत या महामारी की न कुछ भी दाल गलती थी
विषमता दैन्य करुणा भूख सिर धुन धुन के रोती थी
जगाजग ज्योति से उनके हृदय में जलन होती थी

कि जो जग को रुलाने के लिए रावण बुला लायीं
अधमतम क्रूरकर्मी ध्वंस का धावन बुला लायीं
हरी खेती भरी बस्ती में जल-प्लावन बुला लायीं

कि जिसने भव-विभवमय स्वर्ग को लंका बनायी थी
हज़ारों घर उजाड़े थे दिवाली खुद मनायी थी
चमकते स्वर्ण-कलशों में गरीबों की कमायी थी

कुबेर औ' इन्द्र जिसके द्वार पै दरबानी करते थे
पवन पंखा झला करता था पानी मेघ भरते थे
स्वयं यमराज चौखट से बँधे सब जुल्म सहते थे
विलासी देवगण को जिस तरह रखता था रहते थे

प्रकृति की शक्तियाँ जिसको सलामी नित बजाती थीं
हजारों तारिकाएँ दीपमालाएँ सजाती थीं
करोड़ों शव के अम्बारों पै सिंहासन बनाया था
धरा की नन्दिनी को बन्दिनी जिसने बनाया था

दहल कर दम्भ से जिनको सभी दशशीश कहते थे
प्रबल आतंक से दो बाहुओं को बीस कहते थे
हवाओं को हवा उड़ती समुन्दर थरथराता था
जिसे लखकर खड़ी खेती को पाला मार जाता था

ककहरा जुल्म का बच्चों को बचपन से सिखाता था
कि वेदों और शास्त्रों की सदा होली जलाता था
मनन करते हुए मुनियों की खालें खींच लेता था
घरौंदे खेलते बच्चों की टाँगे चीर देता था

पिताओं का सहेजी थातियों को छीन लेता था
किसानों के घरों के शेष दाने बीन लेता था
श्रमिक की रक्तमज्जा से रँगी जिसकी हवेली थी
धरा ने बड़े धीरज से दमन की धमक झेली थी,

घिरी लंका के चारों ओर गहरी गूढ़ खाई थी
इन्हीं गड्ढों से महलों की गगनभेदी ऊँचाई थी

हज़ारों अस्मतों को लूटकर वह खिलखिलाता था
स्वयं सूरज तमस से छुप गया था, तिलमिलाता था

सभी भूखे थे नंगे थे, तबाही ही तबाही थी
मगर अन्याय का प्रतिरोध करने को मनाही थी
किसी ने न्याय माँगा तो समझ लो उसकी आफ़त थी
न जीने की इजाजत थी न मरने की इजाजत थी

धरा को कैद कर आराम से वह रह न सकता था
मनुज इस क्रूर शोषण को बहुत दिन सह न सकता था
स्वयं अन्याय ने पीड़ित दलित को ला जुटाया था
प्रवासी राम ने विद्रोह का बीड़ा उठाया था

नए संघर्ष की यह शक्ति धरती ने जगायी थी
किसी अवधेश या मिथिलेश की सेना न आयी थी
सुबह से शाम तक जो राक्षसी अन्याय सहते थे
जिन्हें सब जंगली हैवान बन्दर भालु कहते थे।

नयी जनशक्ति की हर साँस से हुंकार उठती थी
प्रबल गतिरोध के विध्वंस की धधकार उठती थी
कि बर्बर राक्षसों का जंगली वीरों से पाला था
महीधर फाँद डाले थे समुन्दर बाँध डाला था

उधर थी संगठित सेना अनेकों यन्त्र दुर्धर थे
इधर हुंकारते हाथों में केवल पेड़-पत्थर थे
मगर था एक ही आदर्श जीने का जिलाने का
विगत जर्जर व्यवस्था को स्वयं मिटकर मिटाने का

नयी थी कामना, नवभावना, सन्देश नूतन था
नयी थी प्रेरणा, नव कल्पना, परिवेश नूतन था
नया था मोल जीवन का विषमता ध्वंस करने का
नया था कोल मानव का, धरा को मुक्त करने का

चली क्या राम की सेना कि धरती बोल उठती थी
अखंडित शक्ति का भण्डार अपना खोल उठती थी
धरा की लाड़ली की जब अभय आशीष पायी थी
किसी हनुमान ने तब स्वर्ण की लंका जलायी थी

कँगूरे स्वर्ण-सौधों के धरा लुंठित दिखाते थे
नुकीले अस्त्र दुश्मन के गिरे कुंठित दिखाते थे
अमन का शंख बजता था दमन को दाह होती थी
मनुज की दानवों को आज खुल करके चुनौती थी

विजय का बिगुल बजता था, अनय का नाश होता था
अँधेरा साँस गिनता था, सवेरा पास होता था
सिसकती रात के अंचल में रजनीचर बिलखते थे
उभरती उषा की गोदी में नव-अंकुर किलकते थे

घड़ी अन्तिम समझ दनुकुल जले शोले गिराता था
प्रबल जनबल उन्हें फिर मोड़ उन पर ही फिराता था
नयी गंगा विषमता के कगारों को ढहाती थी
नयी धारा, नयी लहरें, उसे समतल बनाती थीं

युगों की साधना-सी राम ने जब शक्ति छोड़ी थी
किसी जर्जर व्यवस्था की विकट चट्टान तोड़ी थी

कटे पर सा पड़ा रावण धरा पर छटपटाता था
विगत युग मर्सिया गाता, नया युग गान गाता था

बहुत दिन बाद दलितों की हँसी की आज पारी थी
कि फिर से मुक्त था मानव कि फिर से मुक्त नारी थी
बँधी मुट्ठी दिखा जन-टोलियाँ जय-गान गाती थीं
कि नव-निर्माण के जंगल में भी मंगल मनाती थीं

धरा की लाड़ली प्रिय से लिपटने को ललकती थी
नयी कोंपल के होठों से, नयी कलिका किलकती थी
चपल चपला-सी आँखों में नयी आभा झलकती थी
सुधा के युगकटोरों से मदिर छलकन छलकती थी

सवेरे का भटकता शाम को घर लौट आया था
नयी उन्मुक्त जनता ने नया उत्सव मनाया था

छिनी धरती मिली फिर से
नए सपने सँजोए थे
सभी ने खेत जोते थे
सभी ने बीज बोये थे

घिरी काली घटाएँ थीं
अमा की रात काली थी
मगर मानव-धरा के सम्मिलन की
बात ही ऐसी निराली थी

अयोध्या में नए युग की
बुझाने की कहानी थी

कि जिसके साज स्वागत में
सजी पहली दिवाली र।

धरा की लाड़ली ने
स्वयं जिसकी ज्योति बाली थी
विकल सूखे हुए अधरों में
नव-मुस्कान ढाली थी

कि अस्त-व्यस्त तारों में
नयी स्वर तान ढाली थी
धरा में स्वर्ग से बढ़कर
सरसता थी, खुशहाली थी

वही पहला जनोत्सव था
वही पहली दिवाली थी

लहलहाती जब धरा थी शस्य-श्यामल
गुनगुनाती जब गिरा थी गीत कल कल
छलछलाते स्नेह से जब पात्र छलछल
झलमलाते जब प्रभा के पर्व पल पल

आज तुम दुहरा रहे हो प्रथा केवल
आज घर घर में नहीं है स्नेह सम्बल
आज जन जन मे नही है ज्योति का बल
आज सूखी वर्तिका का सुलगता गुल
दीप बुझते जा रहे हैं विवश ढुल ढुल

शेष खण्डहर में विगत युग की निशानी
सुन रहे हो स्वप्न में जैसे कहानी
बन गई हो जिस तरह अपनी विरानी

किंतु जन-जागृति धधकती जा रही है
जल उठेगी फिर नयी बाती सुहानी
जल रहे हैं दीप, जलती है जवानी



स्वर्ग ग्रौर धरती को मिलकर हो जाना है एक

दुनिया में सब हैं व्यस्त
न्यस्त पथ पर
सब दौड़ रहे सरपट
ग्रथवा रथ पर

यह महाकाल का
चक्र घूमता है
सदियों का गौरव खर्व
स्वयं के चरण चूमता है

कल का सपना संघर्ष-दोल पर
सहज सत्य बन कर
युग की पुतली की इंगित पर
ग्रविराम झूमता है।

सोने के गुंबद चूर
धूर का मेरु सँवरता है
हर ग्रोर घनों की चोटों से
फौलाद निखरता है।

प्राचीन नींव पर नहीं
उठायी जाएगी दीवार

कुछ और दूर गहराई तक
जाने का आज विचार

पूरब में लगे पजावे
घर घर दहक रहे अंगार
लाखों हाथों में कन्नी-चूना
लिए खड़े मेमार

आँखों में सबके कौल
मोल में जीवन का भुगतान
हर गली और कूचे में
दिखते नए नए इन्सान,

हाथों में ठेंठे पड़े
पुष्ट मांसल बाहें अभिराम
लाखों हाथों ने बाँट
लिया है अपना अपना काम,

ऐसे में क्या तुम तुक ही
जोड़े जाओगे दिन-रात
छज्जे पर बैठे देखोगे
सुख-सपनों की बारात,

आओ, धरती पर उतरो
तुम भी चुन लो अपना काम,
संक्रमण— काल में कहीं
सिपाही करते हैं आराम ?

लाओ गढ़ ताम्रपत्र पर
युग के संघर्षों के मंत्र
नीवों के नीचे रक्खे जाएँगे
ये मंगल - यंत्र

नव-संस्कृति के निर्माण-प्रहर में
क्षमा न क्षणभर ढील
नव-संकल्पों से शेषनाग के
फन में गाड़ो कील

जिससे न प्रलय भी हिला सके
जन-संस्कृति के प्रासाद
शिव के बीहड़ कैलाश-शृङ्ग को
आज करो आबाद,

अब तक की अनजानी है
इनकी बुलन्दगी की टेक,
अब स्वर्ग और धरती को
मिलकर हो जाना है एक।

